धर्म-रहस्य

लेखक — बैरिस्टर चम्पतराय जैन

भूमिका

इस पुस्तक का अभिप्राय केवल यही है कि भिन्न-भिन्न मतों में जो आपस में भेद व विवाद फैले हुए हैं उनको दूर करे। किताब के पढ़ने से यह मालूम होगा कि धर्म एक ठीक-ठीक विज्ञान या विद्या है, और यह भी मालूम होगा कि करीब हर मज़हब में पूरे-पूरे अलामात *(लक्षण)* सचाई के अंश पाये जाते हैं; इन्हीं अलामतों को शक और धुंधलेपन से साफ करके पेश करने की ज़रूरत है। मैदान या इत्तिफ़ाक़ तो स्वयं उपस्थित ही है। पुस्तक सवाल और जवाब के रूप में लिखी गई है। गुरु और शिष्य दोनों ही कल्पित हैं। आशा है कि जिस उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है उसकी पूर्ति सत्य के प्रताप से शीघ्र ही होगी। इसके पहले संस्करण पर लेखक का नाम मैंने यूं ही ऋषभचरण जैन छपवा दिया था। इस मर्तबा स्वयं अपना नाम छपवा रहा हूँ।

बम्बई, १९।३।१९४०

— सी० आर० जैन

पहला परिच्छेद

धर्म का स्वरूप

गुरु उवाच — धर्म एक विज्ञान या विद्या है जिसका अभिप्राय मनुष्य को संसार के दुःख और संताप से निकालकर उत्तम सुख में स्थिर करने का है। मनुष्य सब कार्य अपने लाभार्थ करता है। बेमतलब या बिना प्रयोजन बुद्धिमान पुरुष कभी कोई कार्य नहीं करता। धर्म-सेवन से मनुष्य का यही अभिप्राय है कि उसको अनन्त, अविनाशी और अक्षय सुख की प्राप्ति हो, जो संसार-अवस्था में नहीं मिल सकता। संसार में लोगों के धन, दौलत, मान, मर्यादा, भोग, विलास इत्यादि उद्देश्य हुआ करते हैं, परन्तु ये सबके सब केवल इन्द्रिय-सुख हैं, जो वास्तव में सुख नहीं हैं वरन् सुखाभास हैं — अर्थात् वास्तव में सुख तो नहीं है मगर स्थूल दृष्टि से देखने वालों को सुख समान भासते हैं। इसका कारण यह है कि ये सबके सब क्षणिक हैं। आत्मा की तृप्ति इनसे नहीं हो सकती है, और इनके सेवन से जो-जो ख़राबियाँ इस जीवन में और आगामी जीवन में होती हैं उनकी उपमा शहद से ढकी हुई खड्ग की धार से दी गई है, जो मिठास तो रखती है परन्तु जिह्वा और हलक को काट डालती है। दिन-रात सुख भोगते-भोगते भी इन्द्रियों की तृप्ति नहीं होती, इसीलिये इन्द्रियों को दहकती हुई अग्नि की भांति कहा है; क्योंकि जितना ज़्यादा घी अग्नि पर डाला जाय उतनी ही उसकी ज्वाला अधिक प्रचण्ड होती है।

विषय-भोगों का स्वरूप यह है कि कोई बाह्य पदार्थ क्यों न हो — चाहे उसे मनुष्य ने स्वतः प्राप्त किया हो, चाहे किसी और व्यक्ति ने प्रसन्न होकर उसे दिया हो — प्रत्येक पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ही भोगा जा सकता है, और इसी कारण सब पदार्थ इन्द्रिय-सुख को ही दे सकते हैं। उनके द्वारा कोई ऐसा सुख नहीं मिल सकता जो अक्षय, अविनाशी और अनन्त हो। मूर्ख लोग संसार की चमक-दमक और वेष-भूषा को देखकर प्रसन्न होते हैं और यहाँ महल बना कर स्थायी निवास करना चाहते हैं, परन्तु मृत्यु किसी क्षण इस बात को जताने और याद दिलाने में त्रुटि नहीं करती कि यह दुनिया केवल एक प्रकार की सराय है जहाँ सदा के लिये ठहरना सर्वथा असम्भव है। ऐसा स्वरूप आशाओं के नित्य के सुख की इच्छा और संसार में सुख की असम्भवता का है। बुद्धिमान पुरुष आत्मा, इच्छाओं और संसार — तीनों के स्वरूप पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करता है।

मैंने पूछा — गुरुजी*!* आत्मा भी कोई पदार्थ है*?* पश्चिमी देश के भौतिकवादी तो चेतना को अनित्य सिद्ध करते हैं, फिर धर्म की आवश्यकता ही क्या है*?* जो मर गया सो गया, धर्म उसका क्या करेगा*!*

गुरुजी ने उत्तर दिया — आत्मा पुद्गल *(Matter/Prakriti)* से विभिन्न जाति का एक द्रव्य है। चेतना उस द्रव्य का गुण है। इसीको जीव-द्रव्य भी कहते हैं। पुद्गल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि होते हैं जो आत्म-द्रव्य में स्वभाव से ही नहीं होते। आत्मा अरूपी द्रव्य है। जो पदार्थ अरूपी होता है वह अविनाशी भी होता है; अर्थात् वह अनादि-अनन्त होता है।

इस प्रकार प्रत्येक जीव एक अखण्ड और अविनाशी पदार्थ है। पश्चिमी विद्वानों ने भी आत्मा को अखण्ड माना है। डब्ल्यू०

मैक्डूगल की रची हुई "फिज़ियोलॉजिकल साइकोलॉजी" *(*टेम्पिल प्राइमर सीरीज़*)*, पृष्ठ ७८-७९ पर लिखा है *(*मूल अंग्रेज़ी उद्धरण पुस्तक में उद्धृत है*)* — इसका अर्थ यह है कि*:* "हम बाध्य हैं इस बात के मानने के लिये अर्थात् मुझको और बहुत से लोगों को ऐसा ज्ञात होता है कि अनुभव सम्बन्धी विभाग व अंश पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं हैं वरन् एक ही द्रव्य व पुरुष *(*सत्ता*)* के एकदेश भाव हैं। और चूँकि यह मस्तिष्क का कोई भाग नहीं है, और कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, बल्कि सब भौतिक पदार्थों से इस कारणवश विभिन्न है कि यह व्यक्तित्व-गुण से भूषित है और तिस पर भी आकाश के बहुत से प्रदेशों से कर्तव्यपरायण होता है *(*अर्थात् मस्तिष्क के विविध स्थानों से जिनमें चेतना-सम्बन्धी कार्यवाही प्रत्येक क्षण चालू रहती है*)*, इसलिये हमको यह ज़रूर मानना पड़ता है कि यह कोई अभौतिक द्रव्य वा व्यक्तित्व *(*सत्ता*)* है। और इस सत्ता को — जिसका व्यक्तिगत चेतना के एकपने *(*अखण्डता*)* के आधार के तौर पर मानना ज़रूरी है — हम व्यक्ति की आत्मा कह सकते हैं। "

यह आत्मा का स्वरूप जो पश्चिमी विद्वानों को बड़ी कठिनाई से अब विदित हुआ है, भारत के ऋषि-महात्मा सनातन से जानते आये हैं। आत्मा अखण्ड है*;* इसी कारणवश कभी कोई मनुष्य अपने आपको समूह-रूप में नहीं देखता, जैसे कोई कंपनी या बोर्ड को कभी कोई मनुष्य अपने आपको जानता है कि जहाँ बहुपक्ष का प्रश्न उत्पन्न हो। इसलिये आत्मा वास्तव में कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होती*;* शरीर की अपेक्षा से मरण-जीवन होता है*;* द्रव्य की अपेक्षा आत्मा नित्य और अविनाशी है।

यह आत्मा सर्वज्ञ भी है — मैंने पूछा*:* आत्मा की सर्वज्ञता का प्रमाण क्या है*?* इसको मानने के लिये तो कोई भी प्रमाण नहीं होगा*?*

गुरुजी का उत्तर — आत्मा के सर्वज्ञ होने में सन्देह नहीं। जैनमत और हिन्दूमत के कुछ दर्शनों में स्पष्ट रीति से आत्मा को स्वभाव से सर्वज्ञ माना गया है। उसकी सर्वज्ञता का समाधान यह है कि द्रव्य के गुण एक समान हुआ करते हैं, जैसे सोना चाहे जिस देश का हो, उसके गुण सदैव एक ही प्रकार के होंगे। भेद केवल खोट की वजह से होगा, कि कहीं उसमें खोट अधिकांश पाया जायगा कहीं कम। परन्तु जहाँ कहीं शुद्ध सोना मिलेगा, उसके गुण सदैव एक ही प्रकार के होंगे। यही दशा आत्मा की है। ज्ञान व दर्शन आत्मा के निजी गुण हैं, और यह प्रत्येक आत्मा में विद्यमान हैं। यद्यपि कहीं तो यह प्रगट हैं और कहीं छुपे हुए हैं। कहीं कम हैं, कहीं अधिक। परन्तु जो बात एक आत्मा जानता है उसे और सब आत्मा भी जान सकती हैं। इसलिये प्रत्येक आत्मा में उन सब बातों को — जिनको गत काल में किसी व्यक्ति ने जाना था, जिनको आज कोई व्यक्ति जानता है, और उन सबको भी जिनको आगामी कोई व्यक्ति जानेगा — जानने की योग्यता है। अर्थात् हर आत्मा में यह योग्यता है कि तीनों लोकों और तीनों कालों के सब ज्ञेय पदार्थों को जान सके। और यह भी स्पष्ट है कि कोई ऐसा पदार्थ न कहीं है, न हुआ होगा और न कहीं होगा, जिसको जानने की योग्यता आत्मा में न हो। कारण कि ज्ञेय पदार्थ के अतिरिक्त कोई "अज्ञेय" पदार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि बिना प्रमाण के किसी वस्तु का अस्तित्व माना नहीं जा सकता, और प्रमाण उस वस्तु का जिसको कभी कोई जान ही नहीं पावेगा, कैसे सम्भव है। अतः "अज्ञेय" कोई पदार्थ नहीं हो सकता, और ज्ञेय पदार्थों का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक प्रत्येक आत्मा में समस्त वस्तुओं और हालतों के जानने की शक्ति विद्यमान ही है। अतः प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञता स्वभाव से ही मौजूद है।

वास्तविकता यह है कि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप व ज्ञानमयी है। जीव-द्रव्य की ही दशाओं वा परिवर्तनों का नाम ज्ञान है। आत्मा के बाहर तो पदार्थ हैं, ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो स्वयं आत्मा का दिव्य प्रकाश है। अनन्त ज्ञान के साथ आत्मा में अनन्त दर्शन की शक्ति भी विद्यमान है। यह आत्मा वास्तव में बड़ी अद्भुत शक्तिवाला द्रव्य है। ज़रा विचार तो करो कि बाहरी पदार्थों के दर्शन का क्या भाव है*!* आँख खुली नहीं कि एकदम आधी दुनिया प्रकाश व रूप से चमकती हुई आँख के समक्ष मौजूद है। भला क्या यह किसी प्रकार पूरी की पूरी आँख के भीतर घुस जाती है*?* बाहर से तो केवल कुछ सूक्ष्म परमाणुओं की किरण वा लहरें ही, जिनको अंग्रेज़ी में *Radiation* कहते हैं, चक्षु पर पड़ती हैं और चक्षु-इन्द्रिय से मिली हुई नाड़ियों पर अपना प्रभाव डालती हैं। आत्मा से तो उनका मिलाप कहीं दूर अन्दर जाकर होता है। और यह भी नहीं है कि आत्मा ही चक्षु द्वारा बाहर निकल खड़ा होता हो। और यदि ऐसा हो भी तो भी उसको दर्शन कैसे हो सकता है*?* अतः जब आत्मा जहाँ की तहाँ है और बाहरी दुनिया भी जहाँ की तहाँ है, और केवल कुछ सूक्ष्म परमाणु ही बाहर से आत्मा तक पहुँचते हैं, तो क्या यह करामात नहीं है कि आत्मा भीतर बैठे-बैठे ही सब कुछ देख सकता है*?* यथार्थता यह है कि दर्शन भी जीव-द्रव्य की पर्याय है, बाहरी इन्द्रियोत्तेजक सामग्री के प्रभाव पर जो परिवर्तन आत्मा में होता है उसीके अनुभव का नाम दर्शन है। और अब अगर तुम इस बात पर विचार करोगे कि यह परिवर्तन आत्मा में सर्व देह में नहीं होता है बल्कि केवल उसके एक देश में होता है — और वह भी उतने ही में जितने से चक्षु-इन्द्रिय की भीतरी सूक्ष्म नाड़ियों का सम्बन्ध है — तो तुम इस बात को सहज में ही समझ जाओगे कि यदि आत्मा की प्रकाश-शक्ति एक देश ही नहीं बल्कि सर्वांग व सर्वदेश में जागृत हो जाय तो कितना अपूर्व और अनन्त दर्शन उसको होगा। अतः प्रत्येक आत्मा स्वभाव से ही अनन्त दर्शन के गुण से भी पूरित है। और

बड़ी अद्भुत बात यह है कि उसका यह अन्तरीक्ष दर्शन संसार के पदार्थों को ज्यों-का-त्यों — जहाँ-का-तहाँ — दर्शाता है।

मैंने विनयपूर्वक कहा — गुरुजी, यह तो मैं भली प्रकार समझ गया कि हर आत्मा स्वभाव से अमर और सर्वज्ञ है, परन्तु अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आत्मा को अविनाशी सुख भी क्या किसी भांति प्राप्त हो सकता है?

गुरुजी ने उत्तर दिया — हाँ! हर आत्मा में इस बात की योग्यता है कि वह अनन्त अविनाशी सुख को प्राप्त करे। आत्मा स्वभाव से ही आनन्दस्वरूप है। सांसारिक सुख-दुःख तो पदार्थों के संयोग-वियोग से या मन की कल्पना द्वारा उत्पन्न होते हैं। परन्तु वह आनन्द बल्कि परमानन्द की अवस्था जो कि उस समय आत्मा के अनुभव में आती है जब वह इष्ट-वियोग व अनिष्ट-संयोग के झमेलों से मुक्त होता है, स्वयं आत्मा के भीतर से ही उत्पन्न होती है; और इसलिये आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रगट करती है। योगीश्वरों को जो शान्ति और आनन्द योग-समाधि में प्राप्त होता है वह कहीं उनके बाहर से नहीं आता। कारण कि आत्मा के बाहर किसी स्थान पर आनन्द की गोलियाँ नहीं बिकती हैं कि जिनके खाने से सुख की प्राप्ति हो। बल्कि बाहर से तो जो पदार्थ आत्मा में प्रवेश कर सकता है वह केवल इन्द्रिय-सुख ही हो सकता है, जो क्षणिक है और अन्त में अशान्ति का दाता है और वास्तविक सुख से विपरीत है। उस आन्तरिक आत्मिक परमानन्द के समझने के लिये जिसका अनुभव योगीश्वरों को होता है एक दृष्टान्त की आवश्यकता है। देखो, जब कोई कार्य जिसके लिए परिश्रम करते हो सफलता को प्राप्त होता है तो उस समय जो आनन्द प्राप्त होता है वह कहाँ से आता है? मान लो कि तुम वकालत की परीक्षा देकर उसके फल की प्रतीक्षा कर रहे हो, फिर तत्क्षण एक तार तुम्हारे पास आता है कि तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। अब बताओ कि वह आनन्द जो तुमको तार के बाँचने से प्राप्त हुआ कहाँ से आया? क्या उस काग़ज़ में भरा हुआ था जिस पर तार की सूचना लिखी थी? या उसके शब्दों में था? नहीं! क्योंकि वैसे काग़ज़ तुमने हज़ारों दफ़ा देखे हैं और वे शब्द तो कोशों में ही लिखे हुए हैं, परन्तु कभी तुम उनको पढ़कर आनन्दित नहीं हुए। अतः यह स्पष्ट है कि परीक्षा में उत्तीर्ण होने की सूचना पर जो आनन्द मनुष्य को प्राप्त होता है वह भीतर से आता है, बाहर से नहीं। और इसी कारण से उत्पन्न होता है कि सूचना के पहुँचने से जो आत्मा के अनुभव में परिवर्तन होता है वह स्वयं सुखमयी है। भावार्थ यह है कि सूचना के मिलने से एकदम उन समस्त कठिनाइयों, परेशानियों और क्लेशों का जो वकालत की पढ़ाई के कारण तुमको सहनी पड़ती थीं, विनाश हो गया, और उनके नष्ट हो जाने के कारण आत्मा क्षणमात्र के लिये अपने स्वाभाविक स्वरूप में एक अंश तक उपस्थित हो गई। स्वभाव से ही परमानन्द-स्वरूप होने के कारण आत्मा का अपने स्वरूप में उपस्थित होना ही आनन्दमयी है, जिसका अनुभव तुरन्त होने लगता है। इसी कारण योगीश्वर और महामुनि बाहरी संसार की ओर से दृष्टि फेरकर अपने स्वात्म-अनुभव में लीन होकर अक्षय सुख का अनुभव करते हैं। उसी की प्राप्ति के लिये मुनीश्वरों ने कठिन से कठिन तप किये। यह आनन्द जो निजानन्द कहलाता है किसी बाह्य सुखप्रदायक सामग्री के आधीन नहीं है; यह पूर्णरूप से स्वाधीन है। इसका भोक्ता अपने निज स्वरूप व स्वभाव यथा परमानन्द का स्रोत पाता है और उसके अनुभव में मग्न रहता है। इस कारण से कि परमानन्द आत्मिक गुण है और गुण गुणी से कभी वास्तविक रूप से पृथक् नहीं हो सकता, इसलिये यह परमानन्द एक बार पूर्णतया प्राप्त हो जाने के पश्चात् फिर कभी कम नहीं हो सकता। यह वास्तविक आनन्द इन्द्रिय-सुख की भांति पराधीन नहीं है, न क्षणिक है, न अन्त में दुःखोत्पादक होता है, वरन् यह निजानन्द है जो मुक्त परमात्माओं को प्राप्त होता है, जो अनुपम है और पूर्ण आत्मिक स्वतन्त्रता का चिह्न है।

अतः आत्मा स्वभाव से ज्ञेयता (सर्वज्ञता), अमरत्व और परमानन्द के गुणों से भूषित, अखण्ड, अपौद्गलिक और ज्ञान की परम ज्योति के स्वरूपवाला, अपनी सत्ता में स्वतन्त्र, पराधीनता से रहित, मृत्यु, दुर्भाग्य, असमर्थता व निर्बलता का विपक्षी और इसलिये अनन्त शक्तिमान् है। यही सब गुण प्रत्येक जीवधारी की आत्मा में स्वभाव से ही विद्यमान हैं, और पूर्णरूप से मौजूद हैं। ऐसे नहीं कि किसी में स्वभाव से कम हों वा किसी में अधिक। यही गुण हैं जो पूज्य ईश्वरीय गुण माने गये हैं। स्वाभाविक गुणों की अपेक्षा परमात्मा वा ईश्वर में और साधारण आत्मा में कोई भेद नहीं है। भेद केवल इतना है कि संसारी आत्मा में यह गुण इस समय अपना पूरा कर्तव्य नहीं करते हैं और दबे पड़े हैं। मिसाल इसकी पानी की बूँद की है, जो वास्तव में दो प्रकार की गैसों (पवन की क़िस्म के पुद्गल) अर्थात् हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के मिलने से बनी है; परन्तु जब तक वह गैसें पानी के रूप में एक दूसरे से मिली रहती हैं तब तक उनके स्वाभाविक गैसवाले गुण कार्यहीन रहते हैं। यही अवस्था संसारी जीव की है जो वास्तव में तो परमात्मा है, परन्तु जब तक वह पुद्गल से मिश्रित व वेष्टित रहता है उस समय तक उसका परमात्मापन कार्यहीन रहता है और दिखाई नहीं देता। और जिस प्रकार पानी की दशा में संयुक्त गैसों का स्वभाव नष्ट नहीं हो जाता वरन् उपस्थित रहता है, और उक्त गैसों के एक दूसरे से पृथक् हो जाने पर झट प्रगट हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा का यथार्थ स्वभाव भी नष्ट नहीं हुआ है, बल्कि पुद्गल के मिलाप के कारण केवल अप्रगट अर्थात् दबा हुआ है। इस पुद्गल से छुटकारा हो तो आत्मा परमात्मा हो जाय। हे पुत्र! ऐसा अद्भुत स्वरूप इस जीव का है।

मैंने प्रश्न किया — आपकी महती कृपा तथा दया से मैं अपना अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वभाव व गुण तो भली प्रकार

समझ गया। परन्तु पुद्गल का स्वरूप जो इसमें आपने मिश्रित बतलाया है, उसका रूप मैं नहीं समझा कि वह क्या पदार्थ है? और किस प्रकार आत्मा तक आता है? और कैसे उसके द्वारा आत्मा के यथार्थ गुणों का घात होता है?

गुरुजी ने उत्तर दिया — हे पुत्र! यह शरीर जो जीव के साथ लगा हुआ है, यह मृतक अचेतन पदार्थ ही पुद्गल-द्रव्य का बना हुआ है। इस मृतक का सम्बन्ध ही अजब है और बड़ा हानिकारक है। यह भी नहीं है कि यह मुर्दा जीव के आधीन हो, बल्कि यहाँ तो विषय "ज़िन्दा-ब-दस्त मुर्दा" (अर्थात् ज़िन्दे के मुर्दे के हाथ में होने) का है। यह बन्दीख़ाना है जिसमें आत्मा बन्धुओं के सदृश है। यद्यपि इसी के कारण आत्मा चलता-फिरता है, फिर यह क़ैद ऐसी है कि इसके भीतर ज़रा भी हिलने-डुलने की गुंजाइश नहीं है। यदि कोई मनुष्य इसमें शंका करे तो उससे मेरा प्रश्न है कि तुम तो आत्मा हो और यह शरीर पुद्गल है जो तुमसे भिन्न द्रव्य का है, तो फिर इसमें से निकल क्यों नहीं आते हो! इससे विदित होता है कि जीव और पुद्गल मिलकर कुछ अंश एकमेक हो गये हैं। यही कारण है कि जिससे उसके स्वाभाविक गुण घात को प्राप्त हुए हैं, जैसे हाइड्रोजन व ऑक्सीजन के स्वाभाविक गुण जब यह मिलकर पानी की पर्याय में उपस्थित होते हैं तब घात को प्राप्त हो जाते हैं।

अब यह पुद्गल का आत्मा की ओर आना कैसे होता है, यह इस प्रकार है कि इस पुद्गल के आगमन की जो आत्मा में तीन प्रणालियाँ हैं उनको मन, वचन और काय कहते हैं। इनके द्वारा सूक्ष्म पुद्गल-वर्गणाएँ (कर्म-वर्गणाएँ) आत्मा से मिलती रहती हैं। देखो, जब ध्यान जिह्वा पर पड़े हुए ग्रास (कौर) की ओर नहीं होता है तो उसका स्वाद नहीं आता। और जब ध्यान उधर होता है तो स्वाद आता है। दोनों दशाओं में कौर तो एक ही द्वार से प्रविष्ट होकर एक ही मार्ग द्वारा चलकर एक ही स्थान पर पहुँचता है, परन्तु इसका क्या कारण है कि एक दशा में तो उसका स्वाद आया और दूसरी में नहीं? इसका उत्तर यह है कि जीव के ध्यान में यह विशेष शक्ति है कि उसके द्वारा आत्मा पदार्थों के सूक्ष्म परमाणुओं को अपनी ओर खींच लेता है। इसलिये जब ध्यान मुँह के कौर की ओर होता है तो इस आकर्षण-शक्ति के द्वारा आत्मा उसमें से स्वाद की सूक्ष्म पुद्गल-वर्गणाओं को अपनी ओर खींच लेता है। और जब इसका ध्यान कहीं और होता है तो रस के परमाणु जिह्वा और गले से उतर कर पेट में जा पड़ते हैं, परन्तु आत्मा से नहीं मिल पाते। रस के सूक्ष्म परमाणुओं के आत्मा से मिल जाने का परिणाम यह होता है कि उसमें एक नवीन दशा अर्थात् ज्ञान-परिणति उत्पन्न हो जाती है। और इस नवीन दशा का नाम स्वाद या स्वाद का अनुभव है। ध्यान का ऐसा प्रभाव है। उससे आत्मा में आकर्षण-शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण यह पुद्गल-द्रव्य को अपनी ओर खींचता रहता है और उससे मिश्रित होता रहता है। अब ध्यान का भावार्थ यहाँ पर सीधी-सादी इच्छा है, क्योंकि प्राणी को जिस वस्तु की इच्छा होती है उसी की ओर उसका ध्यान होता है। अतः यह प्रगट है कि जीव और पुद्गल का मेल इच्छा के कारण होता है। इस पुद्गल के मेल को द्रव्यकर्म कहते हैं। इच्छा का यह परिणाम तो जीव और पुद्गल के मेल की अपेक्षा है। इसका दूसरा परिणाम भावों की अपेक्षा है जिसको भावकर्म कहना चाहिये। भावों की अपेक्षा इच्छा से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, क्योंकि इष्ट वस्तु से राग होता है और अनिष्ट वस्तु से द्वेष। और राग-द्वेष में ही क्रोध, मान, माया, लोभ गर्भित हैं जो आत्मज्ञान में अत्यन्त बाधक हैं।

यह आत्मा अपनी इच्छाओं और क्रोधादि परिणामों के वश अनादिकाल से आवागमन में है। कभी आज तक इसको अपना बोध नहीं हुआ और न इसने कभी गत समय में अपनी स्वाभाविक पूर्णता को प्राप्त किया, क्योंकि यदि यह कभी परमात्मापन की स्वतन्त्रता को प्राप्त हुआ होता तो यह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त-शक्तिमान और परमानन्द का भोगनेवाला होता, और तीनों लोक में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो ऐसे पूज्य गुणों से सुशोभित परमात्मा को फिर पकड़कर आवागमन के चक्कर में डाल दे। अस्तु, यह सिद्ध है कि यह जीव गत समय में कभी पुद्गल के मेल से मुक्त न था, अर्थात् कभी शुद्ध दशा में न था। ऐसा स्वरूप कर्म के आस्रव का है, जो मैंने तुझसे कहा।

मैंने कहा — आवागमन का सिद्धान्त आपके वचनों द्वारा तो स्पष्टतया सिद्ध है, क्योंकि यह बात तो बहुत ठीक है कि जो जीव अनादिकाल से विद्यमान है वह अवश्य आवागमन के चक्कर में रहा होगा। परन्तु इसका कारण मेरी समझ में नहीं आया कि लोगों ने ऐसी सहज बात को समझने में धोखा क्यों खाया?

गुरुजी का उत्तर — आवागमन के सिद्धान्त में तनिक भी सन्देह नहीं है, केवल अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता कि एक जीव ने एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में प्रवेश किया। इसी कारण से कुछ लोग इस वर्तमान समय में इस आवागमन के मसले से इन्कार कर बैठे हैं, वरना केवल चार्वाक (लोकायत) मत के अतिरिक्त इसको किसी ने अस्वीकार नहीं किया था। बौद्ध-मतावलम्बियों ने भी उक्त सिद्धान्त को स्वीकार किया है, यद्यपि वे आत्मा को नित्य नहीं मानते हैं।

जिन व्यक्तियों को यह सिद्धान्त अस्वीकार है उनसे पूछो — आत्मा कोई पदार्थ है या नहीं? अब अगर वह कहें कि हाँ, हम

आत्मा को मानते हैं, तो उनसे पूछो कि वह आज तक शुद्ध अवस्था में था वा अशुद्ध में। अगर वह उत्तर दें कि वह शुद्ध अवस्था में था तो यह बात भी अभी मिथ्या प्रमाणित हो चुकी है। कारण कि शुद्ध जीव तो ईश्वर परमात्मा ही है, और उसका आवागमन में गिरना वा गिराया जाना नितान्त बुद्धि के विपरीत है। बस, केवल एक ही उत्तर शेष रह जाता है, और वह यह है कि जीव अशुद्ध दशा में अनादिकाल से अब तक निष्क्रिय पड़ा रहा, और अब इस अनन्त समय के व्यतीत हो जाने पर एकदम जन्म धारण कर बैठा। इस संसार में जीव अनन्त हैं और उनकी दशाएँ और जीवन की गतियाँ भी बहुत प्रकार की हैं। अगर गत समय में सब जीव निष्क्रिय चुपचाप पड़े रहे तो उनमें योनियों और दशाओं के अन्तर कैसे हो गये? और अन्तर भी कैसे कि एक बुद्धिमान है तो दूसरा मूर्ख, एक अन्धा है तो एक सुज्ञ, एक मोक्ष का खोजी है तो दूसरा नरकगामी, कोई धनवान है कोई निर्धन है, कोई तन्दुरुस्त व ख़ूबसूरत है तो कोई रोगी व कुरूप है? यह भेद तो मनुष्यों के हैं। मनुष्यों, पशुओं और वनस्पति आदि के अन्तर तो और भी बड़े हैं। क्या किसी देवी-देवता ने इनकी ऐसी दशाएँ बना दीं, और बिना अपराध ही? अगर ऐसा हो तो देवी-देवता संसारी जीव की भांति अन्यायी व रागी-द्वेषी ठहरते हैं। और नहीं तो मानना पड़ेगा कि जीवों का वर्तमान का जन्म कोई अनोखी अलौकिक घटना नहीं है जो अनादिकाल से उपस्थित जीव के जीवन में प्रथम बार ही हुई हो, बल्कि एक प्राकृतिक नियम है जिसके अनुसार अशुद्ध जीव का नित्य जन्म-मरण हुआ करता है, जब तक कि वह मोक्ष न पा ले।

आत्मा के सम्बन्ध में अशुद्धता का अर्थ ही यह है कि वह शरीरधारी हो। अतः जब वह इस जन्म से पहले अशुद्ध अवस्था में था तो शरीरधारी तो अवश्य ही था। जिससे यह सिद्ध होता है कि पहले शरीर की मृत्यु होने पर ही यहाँ जन्म हुआ है। और यह भी नहीं है कि हम ऐसा मान लें कि किसी ने इस स्वभाव से पूज्य आत्मा को भौतिक अपवित्रता में लपेटकर कहीं डाल रखा था जिससे वह शरीरधारी तो नहीं था परन्तु बिल्कुल ज्यों-का-त्यों निष्क्रिय इस तमाम अनन्तकाल में जो गत समय का अर्थ है पड़ा रहा। यहाँ भी यदि किसी ईश्वर-परमात्मा ने ऐसा काम किया तो अत्यन्त घृणित काम किया। मगर वास्तव में यह बहस भी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि केवल बाहर से पुद्गल में लिप्त होने से आत्मा के यथार्थ परमात्मापन के गुणों का घात नहीं हो सकता। गुणों का घात करने के लिये तो यह आवश्यक है कि जीव और पुद्गल जीव के आन्तरिक भावों अर्थात् इच्छा द्वारा मिलकर एकमेक हो जायें, जो शरीर धारण करने का भाव है। और जीवन्मुक्त जीव तो शरीर में रहते हुए भी सर्वज्ञ होते हैं और परमानन्द का अनुभव करते हैं, क्योंकि उनके शरीर तो होता है परन्तु घातिया कर्मों का अभाव हो जाता है। कमसे कम यही दशा उस आत्मा की होगी जो पुद्गल में लिपटा हुआ है मगर शरीरधारी नहीं है। अतः यह प्रगट है कि गत समय में बराबर यह आत्मा शरीरधारी रही है। नहीं तो शुद्ध परमात्मा होती और उसका फिर शरीर धारण करना नितान्त असम्भव होता।

जीवात्मा और परमात्मा का भेद अब स्पष्ट है। गुणों की अपेक्षा जीवात्मा और परमात्मा एक ही द्रव्य हैं और समान हैं। एवं अर्थात् अवस्था की अपेक्षा परमात्मा शरीर, कर्मबन्ध से मुक्त, वांछाओं व कामनाओं से रहित, निजानन्द के परम सुख में लीन, अक्षय-अविनाशी पद में विराजमान है, और इसके विरुद्ध जीवात्मा शारीरिक संयोग के कारण सब प्रकार की अशान्तियों, संतापों, बन्धनों और झगड़ों में फँसा हुआ, यमराज के चंगुल में पड़ा हुआ है। धर्म सिखलाता है कि संसारी जीव भी अपने संतापों से निकलकर, कर्म-बन्धनों को तोड़कर, देहरहित शुद्ध आत्मिक छवि को प्राप्त कर, साक्षात् परमात्म-स्वरूप को धारण कर सकता है। इस परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय स्वात्म-अनुभव है, जिसके द्वारा वह आकर्षण-शक्ति जो सूक्ष्म पुद्गल-वर्गणाओं को खींचकर आत्मा में मिलाती रहती है, नष्ट हो जाती है। अतः स्वात्म-अनुभव ही मोक्ष का मार्ग है।

मैंने कहा — गुरुजी! मैं अपना वास्तविक स्वरूप तथा आवागमन का चक्र और पुद्गल का आस्रव आदि भली प्रकार समझ गया हूँ। परन्तु आपने अभी कहा है कि मोक्ष अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप में विराजमान होना स्वात्म-अनुभव का फल है। स्वात्म-अनुभव को मैं भली प्रकार नहीं समझ सका हूँ। कृपया इसे विस्तारपूर्वक वर्णन करके मेरा बोध कीजिये।

गुरुजी का उत्तर — पुत्र! स्वात्म-अनुभव के दो पक्ष हैं — एक स्वात्मा और दूसरा अनुभव। जिस पदार्थ का अनुभव करना है वह स्वात्मा है। किसी बाहरी परमात्मा का अनुभव न तो सम्भव ही है और न वास्तविक आनन्द का कारण हो सकता है। अब यह अमर (यह बात) साफ हो गया कि स्वात्म-अनुभव की आवश्यकता इसलिये है कि सांसारिक सुखों से अब तक तेरी तृप्ति नहीं हुई और न आगे हो सकती है, बल्कि उन्होंने तो तुझे स्वात्मा के ज्ञान से, जो साक्षात् परमात्मा है, वंचित रक्खा है। कौन पदार्थ है जिसको आत्मा ने गत समय में हज़ारों-लाखों बार नहीं भोगा? गत समय का परिमाण विचारणीय है। करोड़, दो करोड़ यहाँ कोई गिनती नहीं है, अरबों-खरबों से भी काम नहीं चलता, असंख्यात स्वयं अपूर्ण पैमाना है। अनन्त की गिनती से छोटा कोई शब्द गत समय के भाव को पूर्णतया प्रगट नहीं कर सकता। यह आत्मा अनादि-अनन्त है और इस गत अनादि-अनन्तकाल में बराबर सर्व प्रकार के विषय-भोगों को विविध योनियों में भोगता रहा है, तिस पर भी इसकी तृप्ति कभी नहीं हुई। और न कभी स्वात्म-अनुभव के बिना होना सम्भव है।

स्वात्म-अनुभव का स्वरूप इस प्रकार है —

दोहा*:* निज में निज को आप से, निज द्वारा निज काज।

निज लखि भानूँ अनुभवूँ, निजानन्द रससाज॥

दूसरा पक्ष स्वात्म-अनुभव का "अनुभव" है। यद्यपि शब्द "अनुभव" साधारण शब्द है और नित्यप्रति मनुष्य इसका प्रयोग करते हैं, तो भी इसके लिये दार्शनिक विचार की आवश्यकता है। यदि ऐसा नहीं है तो स्वात्मा तो तुम हो ही, स्वयं अपना अनुभव भी कर लो। समाजों, लेक्चरों व उपदेशकों की आवश्यकता ही क्या है*?* यथार्थता यह है कि वह काम जो सबसे सरल होना चाहिये, कर्म-बन्धन के कारण अत्यन्त दुस्तर हो रहा है। आश्चर्य की बात यह है कि जीव अपना अनुभव करना चाहे और फिर न कर सके। किसी दूसरे का अनुभव हो तो दूसरी बात थी, तब तो वह उस दूसरे व्यक्ति की मर्ज़ी पर अवलम्बित होता। किन्तु यहाँ तो जीव स्वयं उपस्थित है और स्वयं अनुभव करने को भी उत्सुक है, फिर भी सफलता नहीं होती। कोई कहता है कि मुझे "कन्संट्रेशन" *(*चित्त का एकाग्र होना*)* नहीं होता। कोई कहता है मुझे मेडिटेशन सिखा दो, कोई भक्तिमार्ग में अटका पड़ा है, कोई कहीं टकरा रहा है और कोई कहीं उलझ रहा है। इससे तो प्रतीत होता है कि स्वात्म-अनुभव कोई सरल बात नहीं है। शास्त्रों का भी यही कथन है कि प्रथम विवेक से श्रद्धा उत्पन्न होती है और श्रद्धा के उत्पन्न होने पर तीन-चार भवों में मोक्ष होती है। मोक्ष-सुन्दरी से ऐसे सहज में चट मंगनी पट विवाह नहीं हो जाता। क़ायदे और तरीक़े से प्रत्येक काम करना होता है। सिड़ीपन *(*उतावलेपन*)* से कुछ लाभ नहीं होता, परन्तु जोश और साहस तथा उत्कण्ठा जितनी बढ़ती रहे उतना ही अच्छा है।

अनुभव का स्वरूप इस प्रकार है कि किसी अन्य पदार्थ के जानने में आत्मा स्वयं अपना बोध करता है, कारण कि अन्य पदार्थ का ज्ञान आत्मा को स्वयं आत्मा की ज्ञान-चेतना की दशाओं के परिवर्तनों द्वारा ही हो सकता है, और इस कारण से कि आत्मा की ज्ञान-चेतना के परिवर्तन आत्म-द्रव्य से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं रखते हैं, इसलिये उनका अनुभव स्वयं अपने अनुभव ही के साथ सम्भव है। दूसरे, छद्मस्थ अवस्था में बिना ज्ञान-चेतना के परिवर्तनों के पर-पदार्थ का बोध नितान्त असम्भव है। अब जीव को जो पर-पदार्थ के जानने में अपना बोध होता है वह गौणरूप में होता है, मुख्यरूप में नहीं। इसलिये ऐसा विदित होता है कि जाननेवाले को दूसरे पदार्थ का तो बोध हुआ परन्तु अपना नहीं। यही दोष इस स्वात्म-अनुभव में है। इसी दोष को दूर करना है, जिससे स्वात्मा का अनुभव जो इस समय गौणरूप में होता है मुख्यरूप में होने लगे और पर-पदार्थ का बोध गौणरूप में रह जाय। स्वात्म-अनुभव का मुख्य तात्पर्य यह है कि स्व का अनुभव मुख्य हो और पर का अनुभव गौण हो। यहाँ दशा इसके विपरीत है। इसको अंग्रेज़ी में "*Putting the cart before the horse*" *(*अर्थात् गाड़ी को घोड़े के आगे लगाना*)* कहते हैं। अतः जीव को केवल इतना ही काम करना है कि घोड़े को उसके योग्य स्थान पर लगावे, अर्थात् जो वस्तु अब गौण है उसको मुख्य कर दे और मुख्य को गौण कर दे। अब आत्मा तो जहाँ की तहाँ है, उसको तो उठाकर किसी और स्थान पर नहीं धरा जा सकता। अर्थात् घोड़ा तो अपने स्थान पर है, केवल गाड़ी को जिस स्थान पर वह अब है वहाँ से हटाकर उसके योग्य स्थान पर खड़ा करना है, और इसी में सारी दिक़्क़त व कठिनाई है, क्योंकि यह गाड़ी — इसके विरुद्ध कि यह अचेतन और जड़ है — जगत्प्रसिद्ध अड़ियल टट्टू से भी अधिक अड़ियल है। इसका अपने स्थान से हटाना बड़ा कठिन है। यह वह शत्रु है कि जो इससे लड़ने आता है उसकी आधा बल तुरन्त हर लेता है, और फिर उसको सुगमता से कुचल डालता है। इसको मारने के लिये बुद्धिमत्ता के पेड़ की आड़ पकड़नी पड़ती है, क्योंकि यह केवल जीवात्मा की इच्छाओं का पुतला है जो विषय-वासनाओं के रूप में इन्द्रियों को लुभाता रहता है और इस कारणवश आत्मा को गौण अवस्था में डाले रखता है। अतः इच्छा का निरोध पूरा-पूरा हो तो शत्रु पर विजय प्राप्त हो। इसलिये राग व द्वेष को हृदय से पृथक् करना, अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ को नष्ट करना है।

मिथ्यात्व की प्रबलता और इन बुरे कषायों की तीव्रता से साधारणतया चार डिग्री का ज्वर प्रत्येक समय संसारी जीव को चढ़ा रखता है, जिसके कारण धर्मोपदेश उसको बुरा मालूम होता है। जब मिथ्यात्व और कषायों की अबलता में कुछ न्यूनता हो जाती है और ज्वर एक डिग्री उतर जाता है तो उस समय जीव को सत्योपदेश में रुचि उत्पन्न हो जाती है, मगर उस पर अमल नहीं कर सकता। इसके उपरान्त जब एक डिग्री ज्वर और हल्का हो जाता है तो वह एकदेश चारित्र का पालन करता है और स्थूलरूप से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार-सन्तोष व परिग्रह-त्याग के *(*पंचव्रतों का पालन*)* करता है। फिर एक डिग्री ज्वर जब और उतर जाता है तो वह सन्न्यास-आश्रम की कठिनाइयों को सहन करने के लिये उद्यत हो जाता है और साधुओं के कठिन व्रतों को पालने लगता है। अन्त में जब चारों दर्जे का ज्वर उतर जाता है तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है और सर्वज्ञता को प्राप्त करता है। अब वह केवल शरीर में होने के कारण संसार में रहता है, और जब आयुकर्म के पूर्ण होने पर शरीर पृथक् हो जाता है तो तुरन्त निर्वाण-क्षेत्र में विशुद्ध ज्योति *(*जीव-द्रव्य*)* की छवि को धारण किये हुए मुक्त जीवों अर्थात् परमात्माओं

के स्थान पर विराजमान हो जाता है, और नित्य परमानन्द का सुख भोगता है।

यह आत्मिक ज्वर हल्का कैसे हो*!* कठिनाई सारी आरम्भ में है जब रोगी को धर्मोपदेश ही कडुवा प्रतीत होता है, क्योंकि धर्मलाभ एक दफ़ा होने के पश्चात् तो फिर सब मामला सहल हो जाता है। फिर तो श्रद्धा अपना प्रभाव स्वतः दिखाती है और धीरे-धीरे अवशेष तीन डिग्रियों का ज्वर नष्ट हो जाता है। परन्तु कठिनता आरम्भ में है जब जीव धर्म के नाम से भागता है और पाखण्ड और हिंसा में निमग्न रहता है। ऐसे समय में धार्मिक चिकित्सक लोग धर्मोपदेश नहीं देते हैं। इससे तो उसको तुरन्त कूय *(*अत्यन्त अरुचि*)* हो जाती है और फिर वह हाथ ही नहीं लगाने देता है। इस समय में केवल एक ही औषधि है जो किसी विधि से पिलानी चाहिये, और उस औषधि का नाम अहिंसा है। जब यह औषधि रोगी के पेट में पहुँच जाती है तो इससे उसके ज्वर की तेज़ी और विषमता में कुछ कमी हो जाती है, और दया व रहम की झलक उसके चेहरे पर आ जाती है।

बस, दया का गुण हृदय में उमड़ा — मानो आत्मज्ञान का समय आया — क्योंकि दया का भाव ही आत्मा अर्थात् जीव की प्राणरक्षा का है। यही कारण है कि ऋषियों ने अहिंसा के विषय में कहा है कि "अहिंसा परमो धर्मः"। जहाँ और कोई औषधि सफल नहीं होती, जहाँ रोगी औषधि के नाम मात्र से भागता है, वहाँ यह अहिंसा अपना कर्तव्य दिखाती है, और जो रोगी किसी अन्य दवा से अच्छा नहीं हो सकता उसको चंगा करती है। अस्तु, जो जीव अहिंसा के शुभ नियम पर अमल करते हैं वे ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं।

अब इस बात को सुनो कि धर्मलाभ होने पर इच्छा का निरोध कैसे हो*?* यह तो प्रत्यक्ष प्रगट है कि बिना सीढ़ी के छत पर चढ़ने की कोशिश कष्ट और परेशानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकती, इसलिये यह आवश्यक है कि नियम और क्रम से उसके नष्ट करने का प्रयत्न किया जावे। यहाँ पर दो नियम याद रखने चाहिये। प्रथम तो सब प्रकार की इच्छाओं को जीव एकदम नहीं छोड़ सकता है, और दूसरे यह कि सबसे बुरी आदतों व इच्छाओं का त्याग सबसे पहले होना चाहिये, क्योंकि निकृष्टतम की उपस्थिति में नीच और नीचतर छोड़ने से क्या लाभ*?* निकृष्ट में तो नीच व नीचतर दोनों ही सम्मिलित हैं। इसलिये जब इन दोनों नियमों पर ध्यान देंगे तो यह ज्ञात हो जायगा कि *(*१*)* मांस *(*२*)* मदिरा *(*३*)* जुआ *(*४*)* चोरी *(*५*)* तमाशबीनी अर्थात् वेश्यागमन *(*६*)* शिकार *(*७*)* झूठ बोलना — यह सात बातें एकदम छोड़नी चाहिये, क्योंकि ये अन्य सब बुराइयों की जड़ हैं। इसके उपरान्त पंचव्रत जिनका पूर्व वर्णन हो चुका है, पालने चाहियें। फिर धीरे-धीरे अपने आपको सन्न्यास के कठिन मार्ग के लिये तैयार करना चाहिये। इस काल में गृहस्थी में रहकर और विवाह करके उत्तम सज्जन पुरुष के तौर पर भोग-विलास भी ठीक है। परन्तु चित्त की वृत्ति जहाँ तक बने उदासीन रूप रहे, और यदि सम्यक्दर्शन का लाभ हो गया है तो यह स्वयं उदासीन रूप में परिवर्तित होने लगेगी। अतः पचास-पचपन वर्ष की अवस्था में गृहस्थ सन्न्यास के योग्य हो जायगा यदि उसकी होनहार शुभ है, नहीं तो आगामी जन्म में पुण्य का फल भोगेगा और वहाँ सन्न्यास लेगा। सन्न्यासी के तौर पर अब उसका संसार से केवल इतना ही सम्बन्ध रहता है कि वह शुद्ध भोजन के निमित्त उत्तम गृहस्थ के यहाँ जाता है वा अपनी शक्ति के अनुसार धर्मोपदेश सज्जन पुरुषों को देता है — अवशेष सर्वकाल उसका प्रयत्न यही रहता है कि स्वात्म-अनुभव प्राप्त हो।

यथार्थ साधु का जीवन आरम्भ में बड़ा कष्टसाध्य जीवन है। गृहस्थ तो पूरी उदासीनता को भी कठिनाई से प्राप्त होता है, किन्तु साधु को उन सम्पूर्ण इच्छाओं को पूरा-पूरा नष्ट करना है जो स्वात्म-अनुभव को नहीं होने देतीं। वह रत्नत्रय मार्ग अर्थात् *Right Faith [*रत्न श्रद्धा अर्थात् सम्यक्दर्शन*], Right Knowledge [*सत्य अर्थात् सम्यक्ज्ञान*]* और *Right Conduct [*सत्पथ अर्थात् सम्यक्चारित्र*]* पर सावधानी के साथ चलता है, और अपनी शक्ति के अनुसार नित्यप्रति उन्नति करता रहता है। इस रत्नत्रय-मार्ग का मुख्य कर्तव्य इस प्रकार है — सम्यग्दर्शन का कर्तव्य यह है कि दृष्टि को आनन्द व पूर्णता के बन्दरगाह की ओर, जहाँ जीव को पहुँचना वांछनीय है, बराबर लगाये रहे और एक क्षण को भी उसे किसी दूसरी दिशा में न जाने दे। यह जहाज़ के पतवार के सदृश है, क्योंकि जिधर पतवार का रुख़ होता है उधर ही जहाज़ चलता है। जिसके जीवनरूपी नौका के पतवार का रुख़ अन्य स्थान की ओर है उसका मोक्षस्थान को पहुँचने की आशा करना व्यर्थ है।

सम्यक्ज्ञान वह जहाज़रानी का नक़्शा है जिससे मार्ग का हाल ठीक-ठीक मालूम होता है कि कहाँ चट्टान है, कहाँ दलदल है और कहाँ अन्य प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। जिस मल्लाह के पास ऐसा नक़्शा नहीं है उसकी नौका समुद्र के पार कैसे पहुँच सकती है*?* वह मार्ग में ही कहीं चट्टानों से टकराकर अटक जायगी। सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रय-मार्ग का तीसरा रत्न है। इसकी आवश्यकता ठीक वैसी ही है जैसी जहाज़ को स्टीम *(*भाप-शक्ति*)* की आवश्यकता होती है, क्योंकि नौका जब तक चलेगी नहीं, उद्दिष्ट स्थान बन्दरगाह तक कभी नहीं पहुँचेगी। पतवार और मार्ग का चित्र केवल क्या करेंगे*?* इसी प्रकार सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र के कार्यहीन ही रहते हैं। तिस पर भी यह ठीक ही है कि सम्यक्दर्शन के प्राप्त होने पर चारित्र कभी न कभी ठीक हो ही जाता है, क्योंकि जिसके मन में यह बात निश्चित हो गई है कि उसकी अमुक स्थान पर

जाने से अवश्य ही बड़ा भारी लाभ होगा, वह एक न एक दिन उधर को चल ही पड़ेगा। दुविधावाला तो चाहे न जाय, परन्तु दृढ़-निश्चयवाला बिना गये कभी न रहेगा। सम्यक्चारित्र वास्तव में स्वात्म-अनुभव ही है, ऐसा पहले कहा गया है। परन्तु इस स्वात्म-अनुभव की सिद्धि के लिये इसमें बाधक होनेवाली आदतों, इच्छाओं और कषायों को नष्ट करना है। साधु का बस यही काम है कि वह अपनी इच्छा, बुरी आदतों और कषायों की जड़ बुनियाद से नष्ट कर दे जिससे कि फिर कोई भी बाधा स्वात्म-अनुभव में न रहे। इसलिये वह न भूख-प्यास की परवाह करता है, न कीड़े-मकोड़ों व साँपों के काटने की, और न वह शारीरिक आराम को ढूँढ़ता है, न क्रोध, मान, माया, लोभ को अपने मन में आने देता है। नियम और क्रम तो धर्म से सम्बन्धित हैं, उनकी वह सख़्ती से पाबन्दी करता है। और अन्ततः कठोर तपस्या द्वारा वह अपने मन, वचन और काय को अपना दास बना लेता है जिससे वे फिर उसके स्वात्म-अनुभव में विघ्न नहीं डाल सकते।

जो लोग *"Non-concentration" (*चित्त के एकाग्र न होने*)* की शिकायत करते हैं उनको अब जान लेना चाहिये कि क्यों उनका ध्यान स्थिर नहीं रहता है। ध्यान मन द्वारा होता है, और मन की यह अवस्था है कि ज़रा-सी पीड़ा कहीं शरीर में हुई और तबीयत बेचैन हुई। ज़रा किसी मन को लुभानेवाली वस्तु का ख़याल आया, ध्यान और मन बेक़ाबू होकर भागा। अतः यथार्थ *Concentration (*अचल ध्यान*)* केवल मन, वचन और काय के पूर्णतया वश में हो जाने पर ही होता है।

अब ध्यान के विषय में सुनो। ध्यान चार प्रकार का होता है। एक वह जिसमें दिल हिंसा के कामों में लगा रहे और उसमें प्रसन्न हो — यह अत्यन्त बुरा है। इससे हृदय में कठोरता उत्पन्न होती है और यह नरक और निकृष्ट दुर्गति का कारण है। दूसरा वह ध्यान है जो विषय-वासनाओं में लगा रहे — यह इष्ट-वियोग अनिष्ट-संयोगरूप चिन्ता की जननी है। यह भी बुरा है और दुर्गति का कारण है। तीसरे प्रकार का ध्यान आत्मविचार अर्थात् धर्म-सम्बन्धी बातों का ध्यान है, जैसे तत्त्वविचारादि — इस समय तुम्हारे मन की प्रकृति धर्मध्यान-रूप है। चौथे प्रकार का ध्यान जो शुक्लध्यान कहलाता है, स्वात्मध्यान व योग-समाधि है जो अन्त में बढ़ते-बढ़ते शुद्ध स्वात्म-अनुभव व निर्विकल्प समाधि का स्वरूप धारण कर लेता है। निर्विकल्प समाधि का स्वरूप यह है कि आत्मा स्वयं बिना मन, वचन व काय की सहायता के साक्षात् अपनी सत्ता का अनुभव निर्विघ्नरूप से करे। यही ध्यान परम शुक्लध्यान है जो मुक्त *(*शरीररहित*)* व जीवन्मुक्त *(*मुक्ति के निकट पहुँचनेवाले शरीरसहित*)* परमात्माओं के होता है। साधारण साधु के कभी मन, कभी वचन, कभी काय-योग से स्वात्म-अनुभव होता है। मन, वचन, काय ध्यान के योग कहलाते हैं और साधारण साधु के ध्यान में यह थोड़ी देर तक ही स्थिर रह सकते हैं, इसके उपरान्त बदल जाते हैं। परन्तु जब साधु उन्नति करके ऊपर के दर्जे पहुँच जाता है उस समय इन योगों में से एक ही योग का सहारा लेकर उसका ध्यान ठहर जाता है।

गृहस्थ के लिये स्वात्म-अनुभव करीब-करीब असम्भव है। उसका मुख्य ध्यान धर्मध्यान है, जिसमें उसको जितना सम्भव हो अपने मन को लगाये रहना चाहिये। परन्तु उसके लिये भी यह उचित है कि दिन में कमसे कम एक दफ़े सवेरे और हो सके तो दो दफ़े वा तीन दफ़े अर्थात् सवेरे, दोपहर और शाम को एकान्त स्थान में बैठकर मन को स्वात्म-अनुभव में लगावे। नियम यही है जो साधु का है, अर्थात् या तो शरीर के चक्रों में से किसी पर अपने ध्यान को स्थिर करके आत्मा के अस्तित्व को अनुभव करे, वा मन में शुद्ध पूर्ण परमात्मा के स्वरूप को स्थिर करे और विचारे कि मैं यही हूँ, वा शब्दों द्वारा अपनी आत्मा के स्वरूप का अनुभव करे। एक सुगम उपाय इस स्वात्म-अनुभव का यह है कि आसन लगाकर बैठ जाय या खड़ा हो जावे और अपने शरीर में अपने आत्मदेव का निर्मल श्वेत ज्योति की भांति वा दिव्य प्रकाश का ध्यान करे। इसमें बड़ा आनन्द मिलता है। शब्दों द्वारा स्वात्म-अनुभव भी बड़ा आनन्ददायक है। अपने ही आत्मा के पूज्य स्वाभाविक गुणों का वर्णन करना है जिससे उसकी परमात्मापन की शक्ति जागृत हो। जितना समय इस स्वात्म-अनुभव में दिया जाय उतना ही थोड़ा है, क्योंकि आत्मा में यह भी गुण है कि जिस बात को वह निश्चयपूर्वक मान लेता है वैसा ही हो जाता है। अतः यदि इस आत्मा को इस बात का दृढ़ विश्वास हो जावे कि मैं ही परमात्मा हूँ तो यह शीघ्र ही अपनी इच्छाओं और बन्धनों को नष्ट कर डाले और स्वयं परमात्मा हो जावे।

तात्पर्य यह है कि धर्म आत्मिक विज्ञान है जिसकी शिक्षा यह है — *(*१*)* जीवात्मा ही स्वभाव से परमात्मस्वरूप है। *(*२*)* अमुक्त दशा में जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुणों से अनभिज्ञ होता है और इस कारण परमात्मपद को प्राप्त नहीं होता। *(*३*)* स्वात्म-अनुभव द्वारा जीवात्मा मोक्ष और परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है। *(*४*)* स्वात्म-अनुभव के लिये तपस्या आवश्यक है। *(*५*)* तपस्या का भाव इच्छाओं और वांछाओं का सर्वथा नाश करना है, अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह करना है और विषय-भोगों से मुँह मोड़ना है।

दूसरा परिच्छेद

भारतवर्षीय धर्म

मैंने कहा — गुरुजी! आपके मुखारविन्द से धर्म का स्वरूप मैंने सुना, और धर्मामृत से मेरे भीतरी अन्धकार का नाश हुआ और मेरे आत्मिक सन्ताप की शान्ति हुई। परन्तु मैं उसके श्रवण से एक प्रकार के चक्कर में पड़ गया हूँ, कारण कि यह धर्मशिक्षा जो इस समय मैंने सुनी है इसका वर्णन कहीं पर मेरे देखने में नहीं आया और न हिन्दुओं के पवित्र वेद में ही पाया जाता है। कृपया मेरे इस भ्रम को दूर कर दीजिये।

गुरुजी का उत्तर — जो धर्म का स्वरूप आज तुमको बताया गया है यही वास्तविक धर्म है। यही सब धर्मों में किसी न किसी रूप में पाया जाता है। संसार के धर्मों में जैनधर्म और हिन्दूधर्म दोनों सबसे प्राचीन हैं। इन दोनों की भी यही शिक्षा है। वास्तव में वेद संस्कृत भाषा में नहीं लिखे हुए हैं। तूने यह समझ कर कि वेद संस्कृत भाषा में ही लिखे हुए हैं उनको पढ़ा, इसलिये उनका वास्तविक रहस्य तुझको विदित नहीं हुआ। वास्तव में वेद दो भाषाओं में लिखे हुए हैं, एक में नहीं। ऊपरी भाषा संस्कृत है परन्तु असली भीतरी भाषा काव्यालंकार-रूप है। संस्कृत के पढ़ने से तो केवल अलंकारों का वर्णन मालूम हो जाता है, उनके भाव समझें तो वास्तविक धर्म का पता लगे। सब वेदों में प्राचीन ऋग्वेद है, मगर स्थूल दृष्टि से पाठ करनेवालों को उसमें कर्म, आवागमन व आत्मस्वरूप जैसी बातों का भी पता नहीं चलता। परन्तु यह सत्य है कि ये सब बातें उसमें मौजूद हैं। क्या यह बात तेरी समझ में नहीं आई?

मैंने कहा — आपका कथन सर्वथा सत्य है, परन्तु मुझ जैसे मूर्ख की समझ में आपका उपदेश सहज में कैसे आवे? मुझे तो ऋग्वेद में देवी-देवताओं की स्तुतियाँ ही मिलती हैं। इनके अतिरिक्त मैंने वेद में और कुछ नहीं पाया, न अलंकार ही देखे और न कहीं आवागमन, कर्म, आत्मा इत्यादि का वर्णन ही पाया। अब कृपा करके मेरे ज्ञान-चक्षुओं को खोल दीजिये और मुझे बताइये कि यह क्या भेद है कि मुझे सत्य-धर्म का स्वरूप जो आज आपने समझाया, वेदों में नहीं मिला। और कृपया अलंकार की भाषा का बोध भी मुझे करा दीजिये और इस विषय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट रीति से समझाइये ताकि मेरी तुच्छ बुद्धि में यह भेद भली प्रकार आ जावे।

गुरुजी ने उत्तर दिया — पुत्र! वेद-भाषा बड़ी उत्तम शैली की काव्य-रचना है। संस्कृत में उससे उत्तम अलंकार कम मिलेंगे। धर्मज्ञान के पूज्य नियमों को ही देवी-देवताओं के रूप में वर्णन किया गया है। वर्तमान समय के मनुष्य बड़े संकुचित विचारवाले होते हैं। बुद्धिमत्ता की अपेक्षा इनको शूद्र कहना अनुचित नहीं होगा। ऐसे लोगों को वास्तव में वेदों का पठन-पाठन मना है, कि यह कहीं कुछ का कुछ अर्थ न लगा लेवें। वेद बुद्धिगम्य ही हैं, परन्तु जब उनका अर्थ ग़लत लगाओगे तो वेदों का दोष कुछ नहीं है; इसलिये पिछले समय में विद्याओं में काव्य, अलंकार, निरुक्त आदि पर अधिक जोर दिया जाता था। कारण यही है कि जो व्यक्ति काव्यरचना, निरुक्त व अलंकार की विद्याओं से अनभिज्ञ है वह कभी वेद के वास्तविक भाव को नहीं समझ सकता। वर्तमान काल में लोग वेद-भाषा को शब्दार्थ में पढ़ते हैं। इस प्रकार तो यदि शूद्र भी संस्कृत भाषा सीख ले तो पढ़ सकेगा। तो फिर ब्राह्मण (बुद्धिमान) ही को पढ़ने की आज्ञा क्यों दी जाती है? अस्तु, यथार्थ बात यह है कि वेद काव्य-अलंकारयुक्त हैं और उनका अर्थ केवल ब्राह्मण (पण्डित) गण ही जान सकते हैं, शूद्र (तुच्छ बुद्धि के मनुष्य) नहीं।

अब देख, मैं तुझे वैदिक धर्म का असली भाव समझाता हूँ, इसको ध्यान देकर सुन, इससे तेरा कल्याण होगा। यह तुझे बताया जा चुका है कि सत्य-धर्मविज्ञान के अनुसार — (१) आत्मा एक द्रव्य है जो सर्वज्ञता की योग्यता रखता है, अर्थात् वह सर्वज्ञ होता यदि वह उस अपवित्रता के मैल से जो उसके साथ लगा हुआ है पृथक् होता। (२) अपवित्र आत्मा इन्द्रियों द्वारा बाह्य संसार से व्यापार में संलग्न है और आवागमन में चक्कर खाता है। (३) तपस्या और इन्द्रिय-निग्रह परमात्मापन और पूर्णता की प्राप्ति के साधन हैं। दूसरे शब्दों में प्रत्येक आत्मा में परमात्मा हो जाने की योग्यता विद्यमान है, परन्तु वह जब तक पुद्गल में लिप्त है तब तक वह संसारी जीव (अपवित्र अवस्था में) ही रहता है, और तपस्या द्वारा पुद्गल से मुक्ति पा सकता है।

अतः तीन बातें जो मोक्षाभिलाषी को जाननी आवश्यक हैं वे यह हैं — (१) शुद्ध जीव-द्रव्य का स्वरूप। (२) जीवात्मा (अपवित्रात्मा) की दशा। और (३) अपवित्रता के हटाने के उपाय। यही तीनों बातें वह विषय हैं जो वैदिक देवालय में तीन बड़े देवताओं — सूर्य, इन्द्र, और अग्नि — के रूप में पेश किये गये हैं।

(१) सूर्य सर्वज्ञता का सूचक (चिह्न) है, क्योंकि जिस प्रकार सूर्य के गगन में उदय होने से सब पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार जब सर्वज्ञता का गुण जीव में प्रादुर्भूत हो जाता है तो वह सब पदार्थों को प्रकाशमान कर देता है।

(२) इन्द्र का भाव सांसारिक अपवित्र जीव का है, जो इन्द्रियों के द्वारा सांसारिक भोगों में संलग्न होता है।

(३) अनल (अग्नि) तपस्या की मूर्ति है जो मोक्ष का कारण है।

व्योरे के साथ, इन्द्र ने (१) गौतम की पत्नी से जार-कर्म किया, (२) जिसके कारण उसके शरीर में फोड़े-फुन्सियाँ फूट निकलीं, (३) यह फोड़े-फुन्सियाँ ब्रह्माजी की कृपा से नेत्र (चक्षु) बन गये, (४) इनके अतिरिक्त इन्द्र अपने पिता का भी पिता है। इन बातों की व्याख्या इस प्रकार है — (१क) जार-कर्म का भाव जीव का प्रकृति-समागम अर्थात् पुद्गल में प्रवेश करना है, जो मोक्ष के इच्छुक पुरुषों के लिये अयोग्य (वर्जित) कर्म है, क्योंकि मोक्ष का भाव ही प्रकृति-संयोग से वियोग का है। (ख) जीवन और बुद्धि जीव के दो गुण हैं जिनमें से जीवन सदैव स्थित रहता है, बुद्धि समय-समय पर प्रत्यक्ष और विलीन होती रहती है, जैसे नींद में उसका विलीन हो जाना। (ग) जीवन के लिये शिक्षा का द्वार बुद्धि है, चूँकि बाह्य पुस्तकें व गुरु तो ज्ञान-प्राप्ति के सहकारी कारण ही होते हैं, असली कारण नहीं। (घ) बुद्धि सामान्यतः प्रकृति से सम्बन्ध रखती है और बहुत कम आत्मा की ओर आकर्षित होती है — उदाहरणस्वरूप पाश्चात्य बुद्धिमत्ता को देखो जिसको अभी तक आत्मा का पता ही नहीं लगा है। इसलिये जीव और प्रकृति के समागम को काव्य-रचना में इन्द्र (जीवात्मा) का गुरु गौतम (बुद्धि) की पत्नी (पुद्गल-प्रकृति) से भोग करना बाँधा गया है। (२) फोड़े-फुन्सियाँ अज्ञानी जीव हैं जो प्रकृति में लिप्त होने के कारण अपने वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं — यह अज्ञानता के कारण प्रथम अन्धे हैं। (३) परन्तु जब उनको ब्रह्मज्ञान अर्थात् इस बात का ज्ञान कि आत्मा ही ब्रह्म है, हो जाता है, तो ऐसा होता है मानो उनकी आँखें खुल गईं। इसी बात को अलंकार की भाषा में इस तरह पर दिखाया है कि ब्रह्माजी ने प्रार्थना पर कृपालु होकर पाप के चिह्न फोड़े-फुन्सियों को आँखों में परिवर्तित कर दिया। (४) अन्त में इन्द्र अपने पिता का भी पिता है क्योंकि — (क) शब्द "पिता" का अर्थ अलंकारिक भाषा में उपादान कारण है, और क्योंकि (ख) शुद्ध जीव का उपादान कारण अशुद्ध जीव है, जब कि अशुद्ध (अपवित्र) जीव स्वयं प्रकृति और जीव-द्रव्य से बना है। इसलिये एक दूसरे का उपादान कारण (पिता) है।

यह संक्षेपतः इन्द्र और उसके अपवादरूप जार-कर्म का भाव है। इस देवता का शत्रु अन्धकार का असुर है, जिसका भाव अज्ञानता है। और वर्षा जो इन्द्र द्वारा होती है वह उस शान्ति की दृष्टि है जो कषायों और मिथ्यात्व के ताप के दूर होने पर होती है।

महान् देवताओं की त्रिमूर्ति में तीसरा देव अग्नि है जो तपस्या की मूर्ति है। तप का सम्बन्ध यहाँ पर स्वयं प्रगट है। अग्नि शब्द ही तपस्या के भाव को उद्दीपन करने के लिये बहुत उचित है, क्योंकि तपस्या का अर्थ वास्तव में वैराग्य की अग्नि से जीव को पवित्र करना है। अग्नि के विशेष चिह्न निम्न भांति हैं — १. उसके तीन पैर हैं, २. सात हाथ, और ३. सात जिह्वाएँ हैं। ४. वह देवताओं का पुरोहित है जो उसके बुलाने से आते हैं। ५. वह भक्ष्य और अभक्ष्य अर्थात् पवित्र और अपवित्र दोनों को खा जाता है, और ६. वह देवताओं को बल देता है, अर्थात् जितना अधिक बलिदान अग्नि की भेंट किया जाय उतनी ही देवताओं की पुष्टि होती है।

इन अत्यन्त सुन्दर विचारों की विवेचना इस प्रकार है — १. तप तीन प्रकार से होता है, अर्थात् (क) मन को वश में लाना, (ख) शरीर को वश में लाना, (ग) वचन को वश में लाना। यदि इनमें से केवल दो को ही वश में लाया जावे तो तप अधूरा रहेगा, और कोई चौथी वस्तु वश में लाने को नहीं है। अब चूँकि तपस्या के यह तीन आधार हैं इसलिये अग्नि के तीन पग कहे गये हैं।

२. सात हाथों का भाव ७ ऋद्धियों से है जो तपस्वियों को प्राप्त हो जाती हैं। चूँकि शक्ति का प्रयोग हाथ के द्वारा होता है इसलिये इन सात शक्तियों को अग्नि के सात हाथ माना है। हाथ का अर्थ कर्तव्य का भी होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ के उद्देश्य हैं। इनके अतिरिक्त कर्मों को नष्ट करना, पुण्य की वृद्धि करना और स्वर्ग के सुख को प्रदान करना भी तपश्चरण द्वारा प्राप्त होते हैं। यह सब अग्नि के सात हाथ हैं।

३. सात जिह्वा — अग्नि की पाँच इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं जिनको तप की अग्नि में स्वाहा या भस्म करना है।

४. चूँकि तपस्या करने से आत्मा के ईश्वरीय गुण प्रकाशित होते हैं इसलिये अग्नि को देवताओं (ईश्वरीय गुणों) का पुरोहित कहा गया है जो उसके आह्वान से आते हैं।

५. पुण्य और पाप दोनों बन्धन अर्थात् आवागमन के कारण हैं, जिनमें से पुण्य से हृदयग्राही और पाप से अरुचिकर योनियाँ मिलती हैं। इन दोनों को मुमुक्षु को शुद्ध आत्मध्यान (समाधि) के लिये छोड़ना पड़ता है, इसलिये अग्नि को भक्ष्य (पुण्य)

और अभक्ष्य (पाप) दोनों का भक्षण करनेवाला कहा है।

६. अग्नि का भोजन इच्छाएँ हैं, अर्थात् मन को मारना है, क्योंकि तपस्या का भाव इच्छाओं के त्याग का है। इच्छाओं के नाश करने से आत्मा के ईश्वरीय गुण और विशेषण प्रगट और पुष्ट होते हैं। अलंकार की भाषा में इन ईश्वरीय गुणों को देवता कहते हैं, इसलिये अग्नि पर (इच्छाओं का) बलिदान चढ़ाने से देवताओं की पुष्टि होती है।

अन्ततः वैदिक देवालय की रचना (तरतीब) से स्पष्टतया निम्नलिखित भाव प्रगट होते हैं — १. हर व्यक्ति अपनी सत्ता में ईश्वर है, अर्थात् जीवात्मा ही परमात्मा है। २. शुद्धात्मा पूर्ण परमात्मा होता है, क्योंकि वह सर्वज्ञता से, जो परमात्मापन का चिह्न है, विशिष्ट होता है। ३. जीव का परमात्मापन उसके प्रकृति (पुद्गल) से संयुक्त होने के कारण दबा हुआ है। ४. तपस्या वह मार्ग है जो पूर्णता और परमात्मापन को पहुँचाता है। इस प्रकार वेदों के देवी-देवताओं की कथाओं में जीवनविज्ञान के कतिपय बलिष्ठ नियमों को ही अलंकार की भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

मैंने कर जोड़कर कहा — गुरुजी! आपकी वाणी ने आज मेरे हृदय के अन्धकार को नष्ट करके उसके स्थान में ज्ञान का प्रकाश भर दिया। अब मैं यह बात भली प्रकार समझ गया कि वेदमन्त्रों का वास्तविक भाव निरुक्त, अलंकारादि वेद के अंगों को जाने बिना समझ में नहीं आ सकता है। परन्तु क्या ही उत्तम लेखनशैली है कि थोड़े में ही सब कुछ कह दिया है। वास्तव सागर को बूँद के अन्तर्गत करना इसी को कहते हैं। धन्य है उस काव्य-रचना को जिसमें यह विशेषता पाई जाय। धन्य है उस ज्ञान को जो मोक्ष का सच्चा दाता है। यथार्थ में अपनी आत्मा के अतिरिक्त मोक्ष कहाँ से मिल सकती है? मोक्ष तो स्वयं अपना स्वरूप ही है, बाहर से कोई कैसे दे सकता है। आपको धन्य है कि आपने क्षणमात्र में मेरी अज्ञानता को दूर कर दिया और मुझे मोक्ष का पात्र बना दिया। अब मेरा संशय निकट (दूर) हो गया, और अब मैं आपके मुखारविन्द से अग्नि के स्वरूप को सुनकर यह भी अच्छी तरह से समझ गया कि भिन्न-भिन्न देशों में अग्नि की पूजा क्यों की जाती है। फेरों के समय भी अग्नि-देवता की पूजा का यही अर्थ है कि दूल्हा-दुल्हन तप को साक्षी बनाते हैं, और यही उनका प्रण होता है कि सांसारिक विषय-सेवन के समय भी यह बात सदा ध्यान में रक्खेंगे कि तप ही जीवन का उद्देश्य है, और उसके नियमों को किसी प्रकार भंग न होने देंगे। आपको धन्य है कि आपकी कृपा द्वारा मैं सहज में ही ये सब भेद समझ गया। अब मेरी अभिलाषा गणेशजी का स्वरूप जानने की है जिनकी पूजा हिन्दुओं में सब देवताओं से पहले कार्य के आरम्भ में होती है।

गुरुजी ने कहा — तेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। सुन। गणेशजी का स्वरूप इस प्रकार है — १. वह चूहे पर सवार होते हैं। २. उनके शरीर में मानुषिक देह में हस्ती की सूँड जुड़ी हुई है। ३. वह देवताओं में सबसे छोटे हैं। ४. परन्तु जब उनका आदर कार्य के आरम्भ में न किया जाये तो सबसे अधिक बड़े (हानिकारक) हैं। ५. वह लड्डू खाते हैं। ६. उनका नाम एकदन्त है, क्योंकि उनकी सूँड में दो दाँतों के स्थान पर एक ही दाँत है।

इस बालक-देवता का भेद इस काल में किसी जिज्ञासु को नहीं लगा, परन्तु इसका भाव धार्मिक बुद्धि या समझ है, जैसा कि निम्न सादृश्यों से प्रगट है — १. चूहा, जो सब पदार्थों के काट डालने के कारण अधिक विख्यात है, उस ज्ञान का चिह्न है जिसको एनालिसिस (तत्त्व-निकर्षविद्या) कहते हैं। २. गणेश, जिनका शरीर मानुषिक देह और हाथी की सूँड से जुड़कर बना है, स्वयं संयुक्त आत्मिक ज्ञान की मूर्ति हैं। ३. सत्य वैज्ञानिक बुद्धि देवताओं (दैविक गुणों) में सबसे कम उम्रवाली (बच्चा) है, क्योंकि वह आवागमन के चक्र में सदैव घूमनेवाले आत्मा को जब वह मोक्ष पाने के निकट होता है तब ही प्राप्त होती है। ४. यद्यपि धार्मिक बुद्धि देवताओं में सबसे छोटी है, वह इस बात पर हठ करती है कि कार्यारम्भ में उसका पूजन किया जावे, क्योंकि विचारपूर्वक कार्य-सम्पादन न करने से अवश्य नाश होता है। ५. लड्डू का भाव बुद्धि के फल परमानन्द से है, क्योंकि बुद्धिमान पुरुष स्वाभाविक रीति से परम सुख (मिठाई) को भोगते हैं। ६. एकदन्त का संकेत अद्वैतवाद के नियम "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" की ओर है। अर्थ यही है कि हर जीव के लिये उसकी आत्मा ही वास्तव में अकेला आराध्य परमात्मा है। यह हृदयग्राही मूर्ति गणेशजी की है।

मैंने कहा — गुरुजी! आपने बड़ी कृपा की कि गणेशजी के अद्भुत भाव को मुझ पर प्रगट किया। अब मैं यह भी समझ गया कि कोई-कोई व्यक्ति गणेशजी को नेता कैसे मानते हैं। वास्तविक नेता बुद्धि ही है। वही सब नेताओं की नेता है और हर एक कार्य के...

आरम्भ में उसीको निमंत्रण करना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। उससे बढ़कर और कोई नेता नहीं हो सकता। इसीलिये उसकी प्रेरणा है कि सब देवताओं से पहले उसकी (अर्थात् गणेशजी की) पूजा करनी चाहिये। आपकी शिक्षा द्वारा शेष देवताओं का पता स्वयं सहज में ही चल जायगा और उनके स्वरूप को समझने में अब कुछ कठिनाई मुझे नहीं पड़ेगी। परन्तु अब कृपा करके यह बताइये कि इस भारत देश में सत्य विज्ञान के होते हुये भी मतभेद क्यों पड़ गये! और दर्शनों में पारस्परिक विरोध

क्यों पाया जाता है! ताकि मेरे हृदय को शान्ति हो।

गुरुजी का उत्तर — यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद है। इसे समझने में बड़े-बड़े बुद्धिमान चक्कर में पड़कर उलझ गये हैं। इसका समाधान इस प्रकार है। दुनिया में प्राचीन दो ही धर्म हैं, अर्थात् जैनधर्म और वेदों का धर्म। शेष सब धर्म इन दोनों के पश्चात् के हैं। इस बात को वर्तमान काल के सब बुद्धिमानों ने भी स्वीकार किया है। वेदों में ऋग्वेद ही सबसे प्राचीन है। जैनमत और वेदों के मत का ठीक वही सम्बन्ध है जो विज्ञान और अलंकार का हुआ करता है। वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इनमें कोई भेद नहीं है। स्थूल दृष्टिवाले को, जो वेद के मन्त्रों के यथार्थ भाव से अनभिज्ञ है, भेद दीख पड़ता है। छह दर्शनों में से कोई भी अधिक प्राचीन नहीं है। दर्शनों का पारस्परिक विरोध दार्शनिकों की बुद्धियों के भेद के कारण है। बौद्धमत अनुमानतः ढाई हज़ार वर्ष हुये भारतवर्ष में स्थापित हुआ था, परन्तु शून्यवाद की नींव पर आधारित होने के कारण वह इस देश में जड़ नहीं पकड़ सका। तिस पर भी एक समय सारे देश में इस कारण से फैल गया था कि इसमें तप की कठिनाई कुछ हलकी कर दी गई थी। बौद्धमत के पश्चात् बहुत से मत-मतान्तर समय-समय पर चलते रहे, और जैसा जिसकी समझ में आया वैसा उसने अपने लिये मत बना लिया। परन्तु धर्म का असली स्वरूप वही है जो तुमको बताया गया है।

तीसरा परिच्छेद

अन्य प्रचलित मत

मैंने कहा — भगवन्! मैंने आपके कथन द्वारा वेद की व्यावहारिक तथा अलंकृत भाषा को समझ लिया। अब मुझे कोई सन्देह इस विषय में शेष नहीं रहा। परन्तु अब कृपया यहूदियों के मत के रहस्य को मुझ पर प्रगट कीजिये। आपके मुखारविन्द से इसे सुनने की इच्छा है।

गुरुजी ने कहा — यहूदियों के मत का रहस्य एक कहानी द्वारा ही विदित हो सकता है, जो इस भांति है। आदम और हव्वा को ईश्वर ने अदन के बाग़ में, जिसे ईश्वर ने बनाया था, रक्खा। इस बाग़ में अनेक वृक्ष हैं, परन्तु बाग़ के बीच में दो वृक्ष हैं — जिनमें से एक नेकी और बदी के ज्ञान का वृक्ष है और दूसरा जीवन का वृक्ष। यहाँ मनुष्य (आदम) ने ईश्वरी आज्ञा की अवज्ञा की और साँप (शैतान) के बहकाने पर पहले प्रकार अर्थात् नेकी और बदी के ज्ञान के वृक्ष का फल खाया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह अपनी साथी हव्वा — जो इस पाप में सम्मिलित थी और जिससे पश्चात् उसका विवाह हुआ — समेत बाग़ से निकाल दिया गया। इस सज़ा के फलस्वरूप मृत्यु ने भी आदम का पीछा किया। आदम के पहले दो पुत्र हाबिल और कायन हुए; इनमें से कायन ने अपने भाई को मार डाला। इस कारण ईश्वर (यहोवा) कायन पर क्रुद्ध हुआ और उसे पृथ्वी पर निष्क्रिय (शापित) कर दिया। इसके पश्चात् आदम के एक और पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम उसने सेत रक्खा। सेत का पुत्र एनोस हुआ। उसके समय से लोग यहोवा (ईश्वर) का नाम लेने लगे — अपने आपको यहोवा के नाम से पुकारने लगे।

यह रहस्यपूर्ण कथानक यहूदी मत के भाव को दर्शाने के लिये पर्याप्त है। इस कथा का भावार्थ इस भांति है — १. बाग़ (अदन) जीव के गुणों का अलंकार है, अर्थात् इसमें जीव को बाग़ और गुणों को वृक्षों से संकेतित किया गया है। २. वृक्षों में जीवन और नेकी-बदी के बोध के दो वृक्ष मुख्य हैं, अतएव वे बाग़ के मध्य में पाये जाते हैं। ३. आदम से भाव उस जीव से है जिसने मानुषिक योनि पाई है। ४. हव्वा से भाव काम अर्थात् विषय-सुख का है — यह जीव का ही विकार है और जागृत अवस्था में प्रगट हो जाता है; इसीलिये कहा है कि ईश्वर ने हव्वा को आदम की पसली में से, उसके सोते समय, बनाया। ५. सब प्राणियों में केवल मनुष्य ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है, और इसलिये धार्मिक शिक्षा का वही अधिकारी है — पशुओं को बुद्धि की कमी और शारीरिक तथा मानसिक न्यूनताएँ मोक्ष में बाधक होती हैं, और स्वर्ग व नरक के निवासी भी तपस्या से वंचित रहने के कारण मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते; अतः मनुष्य ही धार्मिक शिक्षा का अधिकारी है। ६. जीवन-वृक्ष का भाव जीवन से है और धर्मज्ञान से भी है, और नेकी-बदी के ज्ञान का अर्थ संसार की वस्तुओं के भोग का फल-परिणाम है। ७. नेकी-बदी के ज्ञान का फल राग व द्वेष हैं, क्योंकि मनुष्य उस वस्तु की प्राप्ति और रक्षा का प्रयत्न करता है जिसे वह अच्छा समझता है, और उसके नाश का प्रयत्न करता है जिसे वह बुरा समझता है। अब यदि तुम नेकी और बदी की वास्तविकता पर विचार करो तो तुमको ज्ञात होगा कि वे वास्तव में कोई नैसर्गिक पदार्थ नहीं हैं और न सदैव एक अवस्था में स्थिर रहनेवाली वस्तु हैं — वे तो केवल परस्पर सम्बन्धित शब्द हैं। जैसे एक वृद्ध पुत्रहीन धनवान के घर पुत्र उत्पन्न होने पर वह हर्ष मनाता है, किन्तु वह निकटस्थ दायाद (भागीदार) जो उस धनवान की सन्तानहीन मृत्यु की प्रतीक्षा में था, उस पुत्र के कारण दुःख में डूब जाता है — तो भी वह बालक, जिसके कारण एक व्यक्ति को हर्ष और दूसरे को दुःख होता है, अपनी सत्ता में केवल एक घटना है। वह अपने माता-पिता के लिये कल्याण और हर्ष का दाता है और इसलिये नेक है, परन्तु उसके लिये जो उस बूढ़े की मृत्यु पर उसका धन लेने का इच्छुक बैठा था, दुःख और हताशा का कारण हो जाता है। एक के हृदय में वह प्रेम

और राग को उत्पन्न करता है और दूसरे के दिल में रंज और द्वेष को। इस प्रकार राग और द्वेष नेकी-बदी रूपी ज्ञान के वृक्ष के फल हैं। ८. राग और द्वेष इच्छा के दो साधारण विभाग हैं (रोचक वस्तु को अपनाने की इच्छा राग है, और बुरी वस्तु को नष्ट करने की इच्छा द्वेष है)। इच्छा ही कर्म-बन्धन और आवागमन का कारण है, जैसा कि पहले दर्शाया गया है। ९. जीव, इस कारण कि वह एक असंयुक्त (अखण्ड) द्रव्य है, अविनाशी है, परन्तु शरीरधारी होने के कारण जीवन और मृत्यु उसके साथ लगे हुए हैं। इस कारण इंजील में कहा है कि "जिस दिन तू उसका फल खावेगा तू निस्सन्देह मर जायेगा।" यह स्मरण रखना चाहिये कि आदम उसी दिन नहीं मर गया जिस दिन उसने नेकी-बदी का ज्ञानरूप फल खाया, बल्कि उसके पश्चात् बहुत वर्षों तक जीवित रहा। अतः "जिस दिन तू उसका फल खावेगा तू निस्सन्देह मर जायेगा" का असली भाव यही हो सकता है कि निषिद्ध फल खाने से मनुष्य को मृत्यु आ घेरती है, अर्थात् राग-द्वेष आवागमन के कारण हैं। १०. साँप का भाव इच्छा से है, जिसके द्वारा बुरी प्रवृत्ति हुई — यह जीव को धर्म से हटाकर बुरे कार्मों की ओर खींच लेती है। ११. विषयों के इष्ट व अनिष्ट (नेक व बद) के ढूँढने में संलग्न प्राणी आत्मा से अनभिज्ञ होता है, अर्थात् वह इस बात से अवगत नहीं होता कि जीव स्वयं परमात्मा है, और वह बाह्य देवताओं से भय खाकर छिपता फिरता है। १२. आदम पाप का भार काम-वासना (हव्वा) पर डालता है, और हव्वा कहती है कि वह इच्छाओं के बहकाने से गुमराह और पराजित हुई। यह बातें ज्ञान और विषय-भोग (इच्छा) की आन्तरिक असलियत से पूर्णतः मेल खाती हैं, क्योंकि पथ-प्रदर्शक (शिक्षक) जो बुद्धि है वह इच्छा के वशीभूत है — अतएव इस बात के निर्णय का अधिकार कि बुद्धि किस काम में अपने कर्तव्य में संलग्न हो, स्वयं बुद्धि को प्राप्त नहीं है, बल्कि प्राणी की इच्छाओं पर निर्भर है, और उसकी बलिष्ठ इच्छाओं के अनुसार ही निर्णय होता है। बुद्धि तो जीव के पथ को प्रकाशमान करने के लिये एक प्रकार की लालटेन है — यह हमें देवमन्दिर की ओर ले जाये या जुए-घर की ओर, यह हमारी इच्छाओं पर निर्भर है, न कि स्वयं बुद्धि की मर्ज़ी पर।

१३. पतन के पश्चात् हाबिल और कायन आदम की सन्तान उत्पन्न होते हैं, जिनमें से हाबिल भेड़ों का चरवाहा और कायन पृथ्वी का जोतनेवाला है। यह दोनों अपने-अपने उद्योगों की भेंट ईश्वर के सामने लाते हैं, परन्तु हाबिल की भेंट स्वीकार होती है और कायन की नहीं। कायन इस पर हाबिल को मार डालता है, जिस पर ख़ुदा उसे शाप देता है। फिर सेत (नियुक्त) आदम का पुत्र उत्पन्न होता है, और सेत का पुत्र एनोस है, जिसके समय में "मनुष्य अपने आपको परमात्मा के नाम से पुकारने लगा।" इनमें हाबिल अन्धविश्वास (श्रद्धा) है जिसकी दृष्टि आत्मा की ओर है, परन्तु कायन तर्क-वितर्क की शक्ति है जो पुद्गल (प्रकृति) से जुड़ी है। इसलिये हाबिल भेड़ (जीव का चिह्न) का रखवाला है और कायन भूमि (पुद्गल) का जोतनेवाला है। दोनों की भेंट उनके निजी उद्योगों का ही फल है, जिनमें हाबिल का उद्यम जीवन-व्यापार का उत्तमोत्तम परिणाम अर्थात् बर्रा (भेड़ के बच्चे जैसा उत्तम मार्दव) इत्यादि है, और कायन की भेंट केवल पुद्गल-ज्ञान का उत्तमोत्तम फल अर्थात् बिजली की रोशनी, हवाई जहाज़ इत्यादि है। हाबिल का कर्तव्य स्वाभाविक रीति से ईश्वर को, जो परमात्मापन की पूर्णता और आनन्द का आदर्श है, स्वीकार्य होता है, क्योंकि उत्तम मार्दव इत्यादि ही वास्तविक मार्ग की सीढ़ी हैं। परन्तु तर्क-वितर्क की शक्ति और (अन्ध) श्रद्धा आपस में स्वाभाविक विरोध रखते हैं, क्योंकि इनमें से एक आज्ञानुवर्ती है और दूसरी परीक्षक। इस हेतु हाबिल को कायन मार डालता है। कायन को जो शाप दिया गया है वह भी तर्क-वितर्क की शक्ति के साथ ठीक मेल खाता है। सेत, जिसका अर्थ "नियुक्ति" है, अध्यात्मिक ज्ञान है जो मृत (अन्ध) विश्वास के स्थान पर स्थापित होता है। इस अध्यात्मिक ज्ञान का पुत्र एनोस है, जो अपने आपको ईश्वर के नाम से विख्यात करता है, अर्थात् जो अपने आपको परमात्मा जानता है।

यहूदियों की धार्मिक पुस्तक में आदम के पाप (आज्ञा-उल्लंघन) का यह भाव किसी सर्वज्ञ परमात्मा के एक तुच्छ मानवी दम्पति के पापों से कुपित होने का इतिहास नहीं है, और न मनुष्य-जाति की जंगली अवस्था की गढ़ी हुई बाल-कहानी ही है, परन्तु सत्य आध्यात्मिक विज्ञान के कतिपय सिद्धान्तों का अलंकार की भाषा में वर्णन है।

मैंने कहा — गुरुजी! आपके मुखारविन्द से यह व्याख्या सुनकर आश्चर्य और हर्ष का ठिकाना न रहा। मैं तो अब तक यहूदियों के मत को पाखण्ड और यहूदियों को कुपथगामी ही समझता था, और इस बाग़ और वृक्षों की कथा को गप्प जानता था। आपकी शिक्षा से तो मेरे नेत्र खुल गये। यहूदी तो मेरे धर्म के भाई ही निकले। अब मेरा चित्त आपसे ईसाइयों के मत का भेद जानने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है। कृपा करके उसे भी वर्णन कीजिये।

गुरुजी ने उत्तर दिया — वास्तव में यहूदियों के मत का रहस्य बड़ा आश्चर्यजनक और हर्षदायक है, और जब संसार के मनुष्य इसके असली भाव को पूर्णतया जानने लगेंगे तो भेदभाव सर्वथा नष्ट हो जायगा और फिर सत्य वैज्ञानिक धर्म की विजयपताका समस्त देशों में फहराने लगेगी। ईसाइयों के मत का रहस्य भी इतना ही मनोरंजक है। उसे तू ध्यान से सुन। ईसा नाम उस आत्मा का है जो अपने परमात्मिक स्वरूप से भलीभांति अवगत हो गई है। इसका पिता ईश्वर और माता कुमारी कन्या मरियम है। ईश्वर का भाव परमात्मस्वरूप का है, और कुमारी मरियम का भाव बुद्धि से है, जो किसी पति के संयोग

द्वारा नहीं बल्कि ज्ञान द्वारा गर्भवती होती है। इसी कारण ईसा के पिता को अंग्रेज़ी की एक पुस्तक में बढ़ई *(carpenter)* लिखा है — बढ़ई ज्ञान का अलंकार है, क्योंकि वह वस्तुओं को काटता *(*विश्लेषण/*analysis)* और जोड़ता *(*संश्लेषण/*synthesis)* है। मसीह का गर्भ में आना बिना मैथुन-पाप के, अर्थात् विशुद्ध रूप में होता है, क्योंकि यह गर्भ बुद्धि को होता है, किसी स्त्री-पुरुष के संयोग से नहीं। जब आत्मा के परमात्मापन का विश्वास मन में उत्पन्न होता है तब कहा जाता है कि ईसा का जन्म हुआ। बालक मसीह गुप्त रीति से उन्नति पाता रहता है जब तक कि उसके शत्रु नष्ट न हो जायें। भाव यह है कि सम्यक्दर्शन *(*सत्य श्रद्धान*)* के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् मसीही पद उस समय तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि आभ्यन्तर आत्मिक प्रवृत्ति दुर्व्यसनों, दुष्ट इच्छाओं और दुर्विचारों को उपयुक्त रीति से नष्ट न कर दे। फिर तपश्चरण करना पड़ता है, जिसके कारण कतिपय अद्भुत शक्तियाँ आत्मा को प्राप्त हो जाती हैं। अब वह समय आ जाता है जब शिष्य चौराहे पर अपने को जीवन और मृत्यु की शक्तियों को हाथ में लिये खड़ा पाता है, क्योंकि इन बलिष्ठ शक्तियों का सांसारिक उन्नति के लिये प्रयोग करना ही आत्मोन्नति की जड़ काटना है — यही प्रलोभन है। इसी विषय में इंजील में कहा गया है कि "शैतान ने ईसा को संसार के राज्य दिखलाये जो उसे सज़दा करने से प्राप्त हो सकते थे।" परन्तु निर्वाणेच्छु *(*मुमुक्षु*)* साधु अब अपने इस इरादे से — कि वह अपने बहिरात्मा को सलीब पर चढ़ावे *(*नष्ट करे*)* — नहीं बदल सकता। अतः वह अपनी सलीब *(*सूली*)* अपने साथ लिये फिरता है, और गोलगोथा के स्थान पर *(*जिसका भाव खोपड़ी के स्थान से है*)* सलीब पर चढ़ाया जाता है। भाव यह है कि वह अब अपने शरीर को सूली की भांति समझता है, और खोपड़ी के विशेष अर्थ का संकेत सहस्रार-चक्र की ओर है जो ध्यान के लिये एक मुख्य स्थान है। यथार्थ जीवन में जो अत्यन्त महान और प्रतापी है, उसके प्रविष्ट होने के कारण जब बहिरात्मा *(*शारीरिक व्यक्तित्व*)* को सलीब पर चढ़ाया जाता है, उसका फल इस प्रकार प्रगट होता है — १. चट्टानों का फटना। २. सूर्य का अन्धकारमय हो जाना। ३. मन्दिर के पर्दे का ऊपर से नीचे तक फट जाना। ४. कब्रों का खुल जाना और मुर्दों का दिखाई देना।

यह सब गुप्त समस्याएँ हैं जिनका अर्थ इस काल में पहली बार तुझे बताया जा रहा है। १. चट्टानों के फट जाने से अभिप्राय कर्मों के कठोर *(*लोहे-से*)* बन्धनों का टूटना है, जो आत्मा के आभ्यन्तर *(*सूक्ष्म*)* शरीर में पड़े हुए हैं। २. सूर्य के अन्धकारमय होने का भाव सीमित मन के कार्यालय के बन्द हो जाने से, अर्थात् इन्द्रियों और बुद्धि के नष्ट होने से है। सर्वज्ञता के प्रगट होने पर यह सब नष्ट हो जाते हैं और फिर इनकी आवश्यकता नहीं रहती। यह अवश्य है कि मनुष्य इन्द्रियों और बुद्धि को अति आवश्यक व उपयोगी पाते हैं, परन्तु वास्तव में यह आत्मा की यथार्थ एवं स्वाभाविक सर्वज्ञता के पूर्ण संचयी प्रकाश को रोकनेवाले हैं। इनका नष्ट होना, जब वह तपश्चरण की पूर्णता के कारण हो, अति शुभ है, क्योंकि तत्क्षण ही भूत-वर्तमान-भविष्य तीनों कालों का पूरा-पूरा ज्ञान उनके नष्ट होने पर प्राप्त हो जाता है — यद्यपि अन्य सर्व स्थानों पर उनका नष्ट होना अवश्य ही एक महान् संकट है। ३. मन्दिर के पर्दे का फटना भी एक गुप्त शिक्षा है। जो पर्दा फटता है वह किसी हाथों से बनाये हुए चूने और ईंट के मन्दिर का नहीं है, बल्कि आत्मा के मन्दिर का है। आभ्यन्तर प्रकाश के ऊपर जो पर्दा पड़ा हुआ है उसके हटने से यहाँ भाव है, जिससे परमात्मापन का यथार्थ प्रकाश हो जाता है — न कि किसी चूने या पत्थर के बने मन्दिर वा उसके किसी भाग के नष्ट होने से। आत्मिक प्रकाश इस आभ्यन्तर पर्दे के फटने का तत्कालीन फल है। ४. परन्तु सबसे सुन्दर अलंकार जो इस स्थान पर प्रयुक्त हुआ है वह कब्रों के खुल जाने का है। जिस वस्तु से यहाँ अभिप्राय है वह प्रकट रूप में किसी क़ब्रिस्तान की क़ब्रों की पंक्तियाँ नहीं हैं जिनमें मुर्दे गड़े पड़े रहते हैं, और न मुर्दों की सड़ी हुई लाशों के किसी प्रबल शक्ति द्वारा फेंके जाने और जनता से प्रगट होने से है, बल्कि मानुषिक स्मरणशक्ति के क़ब्रिस्तान से है, जहाँ भूतकाल की घटनाएँ और संस्कार उसी प्रकार दफ़न पड़े रहते हैं जैसे पृथ्वी के भीतर मुर्दे। यह शिक्षा पिछले जन्मों के हालात के याद आने को, जो तपश्चरण द्वारा सम्भव है, प्रकट करती है। ईसा के शुभ जीवन का यह असली भाव है जो मैंने तुझे बताया। यहाँ भी मतभेद व धर्म-विरोध जो इंजील की शिक्षा और आर्यों के धर्मों में मिलता है, वह केवल अलंकारों के प्रयोग और उनसे उत्पन्न होनेवाले दोषों के कारण से है।

मैंने कहा — भगवन्! आजकल के ईसाई तो अलंकार को स्वीकार नहीं करते हैं। क्या इंजील में कहीं इसका प्रमाण है कि इंजील की भाषा अलंकारयुक्त है? यदि हो तो कृपया प्रगट कीजिये।

गुरुजी का उत्तर — हाँ, यह प्रश्न बहुत उचित है। कई स्थानों पर इंजील में संकेत किया गया है कि कहनेवाले का भाव गुप्त है। और यदि तू स्पष्ट प्रमाण का इच्छुक है तो देख — गैलेशियंस की इंजील के चौथे बाब में पौलुस रसूल ने स्पष्ट शब्दों में स्वयं इब्राहीम व उनकी दो स्त्रियों और पुत्रों के बारे में कहा है कि वह एक अलंकार है। इब्राहीम व उनकी स्त्रियों-पुत्रों के बारे में ईसाइयों, यहूदियों और मुसलमानों तीनों का ही यह दृढ़ विश्वास है कि यह यथार्थ रूप में ऐतिहासिक हुआ है। परन्तु सेंट पौलुस ने इस विश्वास पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। इसी गैलेशियंस की इंजील में बताया गया है कि इब्राहीम की विवाहिता स्त्री का अर्थ शुद्ध आत्म-द्रव्य से है, और दासी का अर्थ कर्म के पुंज से है। विवाहिता स्त्री के पुत्र को मालिक ठहराया है, और दासी-पुत्र के लिये घर से निकाल देने की आज्ञा है। भावार्थ यह है कि बहिरात्मा, अर्थात् शारीरिक व्यक्तित्व, ध्यान

से निकाल देने योग्य है, और उसके स्थान पर स्वात्मतत्त्व को विराजमान करना है। तुमने सुना होगा कि शास्त्रों में आत्मा तीन प्रकार की बतलाई गई है — *(१)* बहिरात्मा, *(२)* अन्तरात्मा, *(३)* परमात्मा। इनमें बहिरात्मा से अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है जो अपने आपको पौद्गलिक शरीर ही समझे। अन्तरात्मा से मतलब जीवात्मा से है जो जीव के साथ लगी हुई अशुद्धता से छूटकर शुद्ध आत्मस्वरूप को धारण करता हुआ परमात्मपद में विराजमान हो जावे। गैलेशियंस की इंजील *(*अध्याय ४, आयत २-३*)* का भाव यही है कि दासी के पुत्र अर्थात् बहिरात्मा को निकाल दो, और अन्तरात्मा को शुद्ध करके स्वयं परमात्मा बन जाओ।

मैंने कहा — गुरुजी*!* आपने बहुत सत्य अर्थ बताया। मैंने भी स्वयं मत्ती की इंजील के पाँचवें बाब में जीवों के लिये यह शिक्षा पढ़ी है कि उनको परमात्मा की पूर्णता प्राप्त करनी चाहिये। अब आपके मुखारविन्द से इसकी अलंकाररूप जीवनी का भाव समझ कर मुझे अति हर्ष हुआ। कृपा करके इंजील में वर्णित मुर्दों के जी उठने की शिक्षा का भेद भी मुझे बता दीजिये ताकि मैं भली प्रकार समझ लूँ।

गुरुजी ने कहा — पुत्र*!* तेरी समझ बड़ी उत्तम है। यह बड़ी कठिन समस्याएँ हैं जिनको तू जानना चाहता है। इनके चक्कर में पड़कर लाखों नहीं बल्कि करोड़ों मनुष्य कुमार्गगामी और दुर्गति को प्राप्त हुये हैं। तेरी भक्ति और बुद्धि की निर्मलता को देखकर तुझे समझाने को स्वयं दिल चाहता है। ले, ध्यान देकर सुन*!* अलंकार की भाषा में मुर्दे ऐसे जीव को कहते हैं जो जीवित तो है परन्तु जिसे अपने वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं है। ऐसे जीव आवागमन के चक्कर में नित्य मरते और जन्म लेते हैं। यही भाव उस इंजील के वाक्य का है जो कहता है — "मुर्दों को अपने मुर्दे गाड़ने दो।" इसमें शब्द मुर्दे का अर्थ अज्ञानी है और दूसरे मुर्दे का अर्थ ऐसे अज्ञानी से है जो *(*आत्मिक दृष्टि से*)* मर गया है। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि "वह जो विषय-भोगों में आसक्त हो चुकी है, मुर्दा है यद्यपि वह जीवित है" *(*१-तीमुथियुस*)*।

अतः "मुर्दों से जी उठने" का अर्थ भी पारिभाषिक है, और उसका अभिप्राय मुक्ति पाने से है। वर्तमान समय के लोग "मुर्दों से जी उठने" का उल्टा-पुल्टा अर्थ लगाते हैं और कहते हैं कि दुनिया के अन्त में एक दिन समस्त मुर्दे जी उठेंगे, और फिर जिन लोगों ने बुरे काम किये हैं उन्हें सदा के लिये नरक में डाल दिया जायगा, और जिन्होंने अच्छे काम किये हैं वे स्वर्ग में अपने पुत्र-पुत्री समेत रहेंगे। किन्तु स्वयं प्रभु ईसा ने इस मसले को साफ़ कर दिया है। उन्होंने इसे इस भांति समझाया है — किसी ने कयामत *(*पुनरुत्थान*)* में एक अमुक स्त्री किसकी पत्नी होगी, यह पूछा था, जिसने इस जगत् में सात भाइयों से — उनके एक के बाद एक मरने पर — विवाह किया था। इसका उत्तर लूका की इंजील अध्याय २० आयत ३४-३६ में इस प्रकार दर्ज है — "इस जगत् की सन्तान में विवाह-शादी होती है, परन्तु जो लोग इस योग्य माने जायेंगे कि उस जगत् को प्राप्त करें और मुर्दों में से जी उठें, वे विवाह नहीं करते और न उनकी शादी कराई जाती है, और न वे फिर मर सकते हैं, क्योंकि वे स्वर्गदूतों के सदृश हैं और ईश्वर के पुत्र हैं, इस कारण से कि वे पुनरुत्थान *(*कयामत*)* के पुत्र हैं।"

इससे स्पष्ट रीति से यह बताया गया है कि *(१)* पुनरुत्थान प्रत्येक मनुष्य के लिये नहीं है, बल्कि केवल उन्हीं के लिये है जो उस जगत् के पाने और मुर्दों में से जी उठने के योग्य माने जाते हैं। *(२)* उस जगत् में विवाह की रीति-रिवाज नहीं है। और *(३)* जो लोग मुर्दों में से जी उठते हैं वे अमर जीवन पाते हैं और पुनरुत्थान के पुत्र होने के कारण ईश्वर के पुत्र कहलाते हैं। इनमें से पहली बात ही पुनरुत्थान के सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रचलित शिक्षा के विपरीत है, जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य, योग्यता का ध्यान न रखते हुए, जीवित किया जायगा। इंजील स्पष्ट रीति से कहती है कि वह अवस्था केवल उन्हीं के लिये है जो उसके योग्य पाये जायेंगे। दूसरी बात साधारण मान्यता के इस विश्वास के भी विरुद्ध है कि स्त्री-पुरुष पौद्गलिक शरीरों के साथ जी उठेंगे और वंश एकत्र किये जायेंगे — क्योंकि यदि मुर्दों में से जीवित हुये मनुष्यों में स्त्री-पुरुष का भेद बना रहेगा तो उनकी अवस्था उन विधवाओं जैसी होगी जिन्हें पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी गई। तीसरी बात, अर्थात् जी उठे मनुष्यों का नित्य *(*अमर*)* जीवन पा लेना भी उतना ही उल्लेखनीय है। सांसारिक जीव आत्म-द्रव्य और पुद्गल का समुदाय है, और समुदाय का यह लक्षण नहीं होता कि वह अविनाशी हो। यथार्थ में यह है कि पुनरुत्थान का सिद्धान्त वास्तव में आवागमन *(*पुनर्जन्म*)* का ही सिद्धान्त है, यद्यपि वह गुप्त अलंकारिक भाषा में छिपाया गया है। यहूदी लोग इससे अपरिचित न थे, और फ़रीसी लोग प्रकट रीति से इसे मानते थे। पुनरुत्थान के दिवस और अन्त का यथार्थ प्रारूप हिन्दुओं के देवता यमराज हैं, जो जीवों के पुण्य और पाप का परिमाण लगाकर उन्हें उनके योग्य स्थान पर भेज देते हैं। यह यमराज कर्म *(*प्राकृतिक नियम*)* का ही रूपक है, जो किसी दशा में भूल नहीं कर सकता। परन्तु मुर्दों के एक नियत दिवस पर, जगत् के अन्त में, जी उठने की कल्पना का इस सिद्धान्त से किसी धर्म में भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। यथार्थ भाव यह था कि प्रत्येक व्यक्ति के मरने पर उसकी अगली गति का निर्णय, कर्म के नियम द्वारा — जो मृत्यु के देवता के रूप में बाँधा गया है — स्वतः हो जाता है, और वह एक नये जन्म में द्वितीय बार शरीर धारण करने के लिये प्राकृतिक आकर्षण से पहुँच जाता है। यह चक्र, जन्म-मरण का, निर्वाण-प्राप्ति तक — जिसका अर्थ मृत्यु पर विजय पाना, अर्थात् मुर्दों में से जी उठना है — चालू रहता

है। "मुर्दों" से अभिप्राय उन समस्त आत्माओं से है जो आत्मावस्था में जीवित नहीं हैं। बाइबिल की पुस्तक "मुकाशिफ़ात" *(Revelation*, अध्याय १, आयत १८*)* में भी ऐसा ही भाव है, जहाँ एक पूर्णात्मा *(*मुक्त जीव*)* के मुख से कहलवाया गया है — "मैं वह हूँ जो जीवित रहता है और मर गया था, और देख, मैं अनन्त काल तक जीवित रहूँगा। आमीन। मृत्यु और नरक की कुंजियाँ मेरे पास हैं। "

अतः मुर्दों से जी उठना अथवा पुनरुत्थान का अर्थ मृत्यु पर विजय प्राप्त करना है — अर्थात् उस दुर्बलता को दूर करने से, जो आत्मपतन के कारण उत्पन्न होती है। यह दुर्बलता राग और द्वेष के कारण *(*जिन्हें अलंकार में पाप और पुण्य का फल बाँधा गया है*)* उत्पन्न होती है, और चारित्र को ठीक करके मृत्यु को पराजित करने से दूर हो जाती है, जिससे वे मनुष्य जो "उस जगत् के पाने और मुर्दों में से जी उठने के योग्य समझे जाते हैं" फिर कभी नहीं मर सकते। इस प्रकार मृत्यु का साम्राज्य उसी क्षेत्र में सीमित है जहाँ राग और द्वेष, अर्थात् व्यक्तिगत प्रेम और घृणा, पाये जाते हैं। राग और द्वेष ही कर्मों के बन्धन और आवागमन के वास्तविक कारण हैं*;* उनसे आत्मा और पुद्गल का मेल होता है जिससे आत्मा की शक्ति निस्तेज पड़ती है।

यहूदियों के गूढ़ ज्ञान *(*कब्बालाह*)* में भी आवागमन का सिद्धान्त माना गया है। वर्तमान खोजियों ने भी यह माना है कि कब्बालाह के दर्शनशास्त्र के युग में यहूदी आवागमन के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे, और यहाँ तक मानते थे कि आदम की आत्मा ने दाऊद में जन्म लिया था और भविष्य में मसीह होगी। सच तो यह है कि आवागमन का सिद्धान्त यहूदियों के मत की प्राचीन प्रारम्भिक शिक्षा में विद्यमान है।

अब तू मृत्यु का स्वरूप सुन। मृत्यु आत्मा और पुद्गल के मेल का ही फल है। इसका कारण यह है कि वे दोनों ही स्वतन्त्रता की अवस्था *(*निज स्वरूप*)* में अविनाशी हैं, क्योंकि वे दोनों — अर्थात् विशुद्ध आत्म-द्रव्य और पुद्गल के परमाणु — असंयोजित *(*अखण्ड*)* हैं और इसलिये नष्ट होने के अयोग्य हैं। अतः जो कोई अमर जीवन का प्राप्तेच्छु है उसे चाहिये कि वह अपने ही स्वभाव, अपनी आत्मा से, उस बाह्य पुद्गल के एक-एक परमाणु को, जो उससे लिपटा हुआ है, पृथक् करके ढूँढे। यह केवल एक ही प्रकार से सम्भव है, अर्थात् केवल तपस्या द्वारा। जब कोई मुमुक्षु सब प्रकार के राग और द्वेष से रहित हो जाता है तब कहा जाता है कि उसने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली, यद्यपि वह इस संसार में मनुष्यों के मध्य तब तक जीवित रहता है जब तक कि उसका शरीर पूर्णतया उससे विलग नहीं हो जाता — उस काल में वह जीवन्मुक्त कहलाता है। अतः जब वह सर्व पौद्गलिक सम्बन्धों से छुटकारा पाता है तो वह तत्क्षण लोक के शिखर पर विशुद्ध ज्योति *(*दिव्य आत्म-द्रव्य*)* के रूप में पहुँच जाता है और "दि मोस्ट हाई" *(*परमोत्कृष्ट परमात्मा*)* कहलाता है। उस जगत् में विवाह क्यों नहीं होता और न कराया जाता*?* इसका कारण यह है कि उस जगत् में लिंग-भेद ही नहीं है। लिंग-भेद का सम्बन्ध शरीर से है, न कि आत्मा से*;* इस कारण एक ही आत्मा आवागमन के चक्र में कभी पुरुष और कभी स्त्री का रूप धारण करता है। परन्तु जब वह इस संसार-सागर के दूसरे किनारे पर पहुँच जाता है तो उसके विषय-प्रसंग के विचार, और वह पौद्गलिक शरीर जो लिंग-भेद की इन्द्रियों के लिये आवश्यक है, दोनों ही तप और ज्ञान की अग्नि से जल जाते हैं। यही कारण है कि निर्वाण में जीव न विवाह करते हैं न उनका विवाह कराया जाता है।

अतः "ईश्वर का पुत्र" वह विशुद्ध और पूर्ण परमात्मा है जिसने अपने उच्च आदर्श को प्राप्त कर लिया है और जो परमात्मा हो गया है। उसने अपने कर्मों की क़ैद और उनसे उत्पन्न होनेवाले बारम्बार जन्म-मरण के फंदों को तोड़ डाला है, और अब लोक के शिखर पर मिथ्यात्व और उसके परम मित्र मृत्यु के विजेता के तौर पर जीवित है। वह "ईश्वर का पुत्र" कहलाता है इस कारण से कि उसने परमात्मा की पूर्णता को प्राप्त किया है जो जीवन का अन्तिम ध्येय है — मानो परमात्मापन को उत्तराधिकार में पाया हो। विशुद्ध पूर्ण आनन्द अर्थात् कभी कम न होनेवाला सदा-परमानन्द, मृत्यु को पराजित करने की शक्ति अर्थात् अमर जीवन, अनन्त-शक्तिमत्ता, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन — जिन्हें जैनधर्म के शास्त्रों में "अनन्त चतुष्टय" कहते हैं — ये उन विशुद्ध आत्माओं के गुण हैं। वे मनुष्यजाति के यथार्थ शिक्षक हैं और ज्ञान अर्थात् धर्म के यथार्थ स्रोत हैं। उनके मुख्य गुण इंजील में इस प्रकार वर्णित हैं — *(*१*)* आत्मिक योग्यता, जिससे वे उस जगत् अर्थात् निर्वाण को पाते हैं। *(*२*)* लिंग-भेद से रहित होना, अर्थात् सर्व प्रकार के शरीरों से छुटकारा। *(*३*)* मृत्यु से मुक्ति, और *(*४*)* परमात्मापन की प्राप्ति। इसी कारण से उनके लिये यह भी कहा गया है कि वे फिर कभी मर नहीं सकते।

मैंने कहा — गुरुजी*!* आपके वचनामृत को मैंने खूब दिल खोल कर पिया, और उससे जो तृप्ति व शान्ति मुझे प्राप्त हुई है उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता। यह मनुष्यजाति का दुर्भाग्य है कि ऐसी उत्तम शिक्षा इस प्रकार शताब्दियों तक छिपी हुई पड़ी रही, और किसी को इसके यथार्थ भाव का पता न लगा। परन्तु प्रतीत होता है कि अब हमारे दुर्भाग्य का अन्त-समय आ गया, क्योंकि आज आपने स्पष्ट रीति से इन समस्याओं का रहस्य प्रगट कर दिया। अब मैं यह भी जानना चाहता

हूँ जो पिता, पुत्र और पवित्र रूह की त्रिमूर्ति से सम्बन्ध रखता है। कृपया यह भेद भी मुझे बताइये ताकि मेरी चिन्ता दूर हो।

गुरूजी ने उत्तर दिया — यह सत्य है कि वर्तमान काल के मनुष्य बड़े दुर्भागी हैं। वास्तव में गुप्त रहस्यों में माणिक ही भरे हुये हैं, परन्तु समय के प्रभाव से उनके जाननेवाले नहीं रहे। अब वे माणिक सब स्थानों में कोयलेवालों के हाथों में पड़ गये हैं, जिन्हें वे कोयले के टुकड़े ही समझते हैं। इंजील की त्रिमूर्ति का भेद भी बड़ा मनोरंजक और आश्चर्यजनक है। पिता-पुत्र की कल्पना का यथार्थ उत्पत्ति-स्थान हिन्दूधर्म है। यह किस प्रकार है सो अब तुझे बताते हैं। तूने सुना होगा कि एक समय इन्द्र देवता को सावित्री देवी ने कुपित होकर शाप दिया था कि वह अपने देश तथा नगर से पृथक् हो जायेगा और परदेश में जंजीरों द्वारा बन्धनावस्था को प्राप्त होगा। तत्पश्चात् गायत्री देवी ने इस शाप को कुछ हल्का किया था और यह वरदान दिया था कि इन्द्र का पुत्र उसे मुक्ति देगा। "पिता-पुत्र" की कल्पना इसी हिन्दू कथा के समय से प्रचलित है। इसका भावार्थ यह है कि इन्द्र देवता स्वयं प्राणी की आत्मा है, जो संसारी अवस्था में अपने निज स्वभाव और परमात्मपद से पतित, कर्मरूपी जंजीरों से जकड़ा हुआ, आवागमन के चक्र में देश-देशान्तरों में भ्रमण करता रहता है। यही संसारी जीव — इन्द्र — सावितो देवी के शाप को पूर्णरूप से दर्शाता है, और इसी अमुक्त, अपवित्र, संसारी जीव अर्थात् इन्द्र में से ज्ञान व तप के परिणामरूप जो शुद्ध परमात्मस्वरूप आत्मा प्रगट होती है वह अलंकार की भाषा में उसका "पुत्र" कहा गया है। इसी कारण इन्द्र अपने पिता का भी पिता कहलाता है, जिसका भाव तुझे पहले बताया गया है। इंजील की अलंकारित परिभाषा में भी जीव-सत्ता का नाम "पिता" है। इसी जीव-सत्ता में से जो मुक्तिरूपी "पुत्र" — आत्मा के निज शुद्ध स्वरूप को धारण किये हुये — प्रगट होता है वही "पुत्र" है। और "पवित्र रूह" जो तीसरा अभिन्न सदस्य इस त्रिमूर्ति का है, वह वैराग्यमयी भाव है जिसके द्वारा निज शुद्धात्मिक पवित्रता प्रगट होती है। यह भी तुझे समझ लेना चाहिये कि अंग्रेज़ी शब्द "होली" *(Holy)* का वास्तविक अर्थ "पूर्ण बनाना" है, अर्थात् "होली घोस्ट" *(*पवित्रात्मा*)* वह विशेष वैराग्यमयी शक्ति है जो अपूर्ण संसारी जीव को परमात्मपद की पूर्णता प्रदान करती है।

मैंने विनयपूर्वक कहा — आज मेरे बड़े पुण्य का उदय हुआ है जो आपकी कृपा से मुझे ऐसे-ऐसे भेद जानने को मिले हैं। यह वे भेद हैं जिनके वर्णन के लिये बड़े-बड़े योगीश्वरों ने भी अपने में शक्ति न पाई, परन्तु आपकी कृपा से सहज में ही मुझे यह अपूर्व ज्ञान प्राप्त हो गया। अब प्रतीत होता है कि मनुष्यजाति के भाग्य जाग उठे हैं, और वह समय निकट आ गया कि अज्ञान का अन्धकार तत्क्षण ही दूर हो जायेगा। अब मैं दीन इस्लाम के रहस्य को भी आपके मुखारविन्द से सुनना चाहता हूँ; कृपा करके उसका भेद भी मुझ पर प्रगट कीजिये।

गुरूजी ने उत्तर दिया — इस्लाम, यहूदी और ईसाई मतों से पूर्णतया सम्बन्ध रखता है, और उसमें यहूदी मत के कथानक अधिकांश में स्वीकार किये गये हैं। आत्मा के पतन का हाल, जो अदन के बाग़ की कथा में यहूदियों की पूज्य पुस्तक में सिखाया गया है, मुसलमान मत के संस्थापक ने भी स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी क़ुरान शरीफ़ में पूर्व के शास्त्रों की सत्यता को स्वीकार किया गया है, और वही नियम जो धार्मिक विज्ञान के स्तम्भ हैं मुसलमानों के पूज्य शास्त्र में भी पाये जाते हैं। सूरा ज़ारियात में स्पष्ट रीति से कहा गया है — "मैं तुम्हारे अस्तित्व में विराजमान हूँ, परन्तु तुम नहीं समझते हो।" इसका अर्थ यही है कि जीव स्वयं ही गुणों की अपेक्षा परमात्मस्वरूप है। स्वयं मोहम्मद साहब ने कहा है — "ऐ मनुष्य, तू अपने आपको पहचान।" एक अन्य स्थान पर यह भी कहा गया है कि जो अपने आपको जानता है वह ख़ुदा को जानता है। साधारण मुसलमानों ने क़ुरान शरीफ़ को स्थूल दृष्टि से ही पढ़ा, परन्तु प्राचीन सूफ़ियों को बहुत कुछ अंश में उसके असली भाव का पता मिला था।

सूफ़ी कवि फ़रीदुद्दीन अत्तार ने साफ़ कहा है — "तू स्वयं ख़ुदा है, पर निद्रा *(*ग़फ़लत*)* की अवस्था में है; जिस दिन तू जगेगा वह भी जग जायेगा।" इसका अर्थ यही है कि जब तक अहंकार का यह पुतला — बहिरात्मा — तुझमें विद्यमान है, परमात्मा *(*तेरे भीतर*)* सुषुप्त अवस्था में है; जब इस बहिरात्मा का अस्तित्व नष्ट हो जायेगा तब वह जागृत होगा। एक अन्य सूफ़ी कहता है कि मनुष्य की सत्ता में समस्त परमात्मिक गुण विद्यमान हैं — यदि तू उनका अनुभव करना चाहता है तो अपने भीतर ही उनका अनुभव कर; काबे और बुतखाने क्यों जाता है? एक मुसलमान संत का कथन है — "हे लोगो! तीर्थयात्रा करने कहाँ जाते हो? प्रेमास्पद *(*माशूक़*)* तो यहीं है, चलो, इसे देखो। तुम्हारा प्रियतम तो तुम्हारा पड़ोसी ही है, दीवार से दीवार मिली है। तुम बियाबान में क्यों फिरते हो? तुम जो ख़ुदा को ढूँढते हो, तुम स्वयं ख़ुदा हो; तुम उसी को तो ढूँढते हो।" एक अन्य शायर के अनुसार — "प्रियतम नक़ाब के भीतर छिपा हुआ है, जैसे दरिया बुलबुले में छिप जाता है। मर्म समझने से पर्दा उठ जाता है। तेरी ही हस्ती तेरे ऊपर नक़ाब बन गई है। पर्दा उठा और प्रियतम का सौन्दर्य देख, और अपने भेद को पहचान।"

अन्य सूफ़ी वचन भी इसी भाव के हैं — आत्मा का स्थान अति आश्चर्यजनक है; उसकी प्रशंसा करने में मैं स्वयं को हीन पाता

हूँ। तू ही प्रगट आशिक़ भी है और तू ही वास्तव में स्वयं माशूक़ (प्रियतम) भी है। यदि तू अपने भेद को पहचान ले तो ईश्वर और जगत् के भेद से अवश्य अवगत हो जाये। तू स्वयं जल (पानी) है और जल को ही ढूँढता है; अपनी सम्पत्ति को भूल गया है और आश्चर्य प्रकट करता है। तू बादशाह है, फिर भिखारी क्यों बनता है? सारा ख़ज़ाना तेरी ही सम्पत्ति है, फिर तू निर्धन क्यों है?

इसी भाव के अन्य शेर भी निज आत्मा के परमात्मस्वरूप की ओर संकेत करते हैं — वास्तव में तू ही शास्त्रों का विषय है; अपने चिह्नों को स्वयं अपने भीतर ही ढूँढ निकाल। यथार्थ रूप में तेरा हृदय ही सफलता की कुंजी है; तेरी हर इच्छा की पूर्ति उससे हो सकती है। ईश्वरीय प्रतिमा तू स्वयं ही है; समस्त पदार्थों का पूर्ण ज्ञाता स्वयं तू ही है। संसार में जो कोई वस्तु वांछनीय हो सकती है, वह स्वयं तू ही है — अपने चिह्नों को पहचान।

मैंने कहा — गुरुजी! इस प्रश्न को आपने इतना स्पष्ट कर दिया कि जिससे मेरी सब शंकाएँ एकदम नष्ट हो गईं। परन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि मुसलमानों और ईसाइयों के मत में वैराग्य और चारित्र का क्या स्वरूप बताया गया है।

गुरुजी ने उत्तर दिया — ईसाइयों और मुसलमानों दोनों के मत में चारित्र की शुद्धि और तपश्चरण ही मोक्ष-मार्ग बताये गये हैं, परन्तु इनका वर्णन गौण रूप में है। कुछ प्रमाण तुझे पहले ईसाइयों की इंजील से देंगे; तीक्ष्ण बुद्धिवाला उन्हें स्वयं सहज में ही समझ लेगा। इसके पश्चात् क़ुरान शरीफ़ और मुसलमान दरवेशों (साधुओं) के वाक्य तुझे सुनायेंगे, जिनसे यह सिद्ध हो जायगा कि मुसलमानी मत की शिक्षा भी इस विषय में वैसी ही है जैसी आर्य लोगों के धर्म की।

अब इंजील के प्रमाणों को सुन — (१) यदि तुम शरीर के अनुसार जीवन व्यतीत करोगे तो अवश्य मरोगे, और यदि आत्मा से शरीर के कार्यों का विध्वंस करोगे तो जीवित रहोगे। (२) जो कोई शरीर के लिये बोता है वह शरीर से दुःखों की फ़सल काटेगा, और जो कोई आत्मा के लिये बोता है वह आत्मा से अनन्त जीवन का लाभ करेगा। (३) अतः अपने उन अवयवों को मुर्दा करो जो पृथ्वी पर हैं। (४) शारीरिक प्रवृत्ति मृत्यु है, परन्तु आत्मिक प्रवृत्ति जीवन और शान्ति है। (५) उस सँकरे फाटक से प्रविष्ट हो, क्योंकि वह द्वार चौड़ा है और वह मार्ग विशाल है जो विनाश को पहुँचाता है, और उससे प्रवेश करनेवाले बहुत हैं; परन्तु वह फाटक सँकरा है और वह मार्ग संकड़ा है जो जीवन को पहुँचाता है, और उसे पानेवाले थोड़े हैं। (६) धिक्कार तुम पर जो अब भरपूर हो, क्योंकि भूखे होगे; धिक्कार है तुम पर जो अब हँसते हो, क्योंकि मातम करोगे और रोओगे। धन्य तुम जो भूखे हो, क्योंकि सुखी होओगे। धन्य हो तुम जो अब रोते हो, क्योंकि हँसोगे। (७) यदि कोई मेरे पीछे आना चाहे तो अपनी ख़ुदी से इन्कार करे (इच्छा को मारे) और अपनी क्रॉस (सलीब) उठाये और मेरे पीछे हो ले। (८) और जो कोई अपनी सलीब नहीं उठाता और मेरे पीछे चलता है वह मेरे योग्य नहीं। (९) यदि कोई मेरे पास आये और अपने पिता, माता, स्त्री, सन्तान, भाइयों और बहनों बल्कि अपनी जान से भी वैर न करे तो मेरा शिष्य नहीं हो सकता। (१०) जो कोई अपनी जान बचाने की कोशिश करेगा वह उसे खोयेगा, और जो उसे खोयेगा वह उसे जीवित रक्खेगा। (११) लोमड़ियों के बिल होते हैं और आकाश के पक्षियों के घोंसले, परन्तु मनुष्य के पुत्र के लिये सिर धरने को भी जगह नहीं है। (१२) परिश्रम और पीड़ा में, बारम्बार जागृत अवस्था में, भूख और प्यास की तृष्णा में, बारम्बार उपवासों में, शीत और नग्नता की अवस्था में (रहा)। (१३) और कुछ नपुंसक ऐसे हैं जिन्होंने ईश्वरीय साम्राज्य के लिये अपने आपको नपुंसक बनाया है। (१४) बल्कि मैं अपने शरीर को ताड़ना करके वश में लाता हूँ। (१५) और जो मसीह ईसा के हैं उन्होंने शरीर को उसकी वासनाओं और इच्छाओं समेत सलीब पर खींच दिया है। (१६) अतः, हे भाइयो! मैं ख़ुदा की रहमतें याद दिलाकर तुमसे विनती करता हूँ कि तुम अपने शरीरों को जीवित, विशुद्ध और ईश्वर को प्रसन्न करनेवाले बलिदान के तौर पर भेंट कर दो; यही तुम्हारी उपयुक्त सेवा है।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि इंजील की शिक्षानुसार शरीर-संयोग के कारणों का विध्वंस करना आत्मोन्नति का बीज है। मानसिक इच्छाओं को मारना, शारीरिक प्रवृत्ति से मुँह मोड़ना, कठिन तपस्या के मार्ग पर चलना, भूख-प्यास को वश में करना, अपने शरीर को सलीब (अचेतन काठ) की भांति मान कर सर्वथा त्याग देना, माता-पिता, स्त्री, सन्तान और भाइयों आदि से अनुराग न करना और स्वयं अपने जीवन से भी राग को तोड़ देना, संन्यासी के अनुरूप गृहस्थी और घर को त्याग कर व्यवहार में रहना, संन्यास की परीषहों (कठिनाइयों) को सहर्ष सहन करना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, और हर प्रकार से शरीर व उसके अवयवों (वांछाओं और इच्छाओं) को तप की अग्नि में आहुति देकर बलिदान कर देना — यही मोक्ष के कारण हैं।

अब मुसलमानों के मत के बारे में सुन। उनके यहाँ भी उपवास अर्थात् रोज़ा, तीर्थयात्रा (हज्ज), बलिदान अर्थात् इन्द्रिय-निरोध आदि ही मोक्ष के कारण बतलाये गये हैं। मुसलमान सूफ़ी दरवेशों ने कहा है — (१) तू दीन के वास्ते दुनिया को छोड़

दे; तू ईश्वर पर श्रद्धापूर्वक भरोसा कर। (२) अहंकार की सूरत को तू क़त्ल कर दे; इच्छा के क़िले को जड़ से उखाड़ कर फेंक दे। (३) इन्द्रियों को तू चोर की भांति क़ैद कर ले; जब चोर पकड़ा जाये तो शान्ति से छुटकारा (न्याय) कर। (४) जब तुझे यहाँ से जाना ही है तो फिर अपने मन को सांसारिक कार्यों में क्यों लगाता है? (५) संसार के कामों में जनसाधारण संलग्न हैं; सबने मृत्यु का ध्यान चित्त से बिसार दिया है। (६) संसार के सम्बन्धों को छोड़ दे; तू उसमें यात्री की भांति उदासीन चित्त से रह। (७) क्या निद्रा है जिसने हमें अन्धा कर दिया है, कि मृत्यु का विचार हृदय से निकाल दिया है। (८) जब तक इन्द्रियाँ आत्मा के आधीन नहीं हो जातीं, पीड़ित हृदय का इलाज कैसे सम्भव है? (९) संन्यास का स्थान निस्सन्देह उच्च स्थान है; "मैं" और "मेरा" का गुज़ारा उसमें नहीं है। (१०) उस अवस्था में अद्भुत सिद्धियाँ (कश्फ़-ओ-करामात) प्राप्त होती हैं, परन्तु उनसे भी आगे बढ़ जाना चाहिये। (११) यदि दोनों लोक (इहलोक और परलोक) साधु को पेश किये जावें तो भी उन पर दृष्टि न डालनी चाहिये। (१२) यदि तू तौहीद (अद्वैत) में विनाश को प्राप्त हो जावे तो सत्यता में अमर जीवन पावे।

क़ुरान शरीफ़ की निम्न आयतों में उन्नति करने के मार्गों में ज्ञान पर ज़ोर दिया गया है — (१) सहनशीलता को अमल में ला, उच्च शिक्षा दे, और नीचता से दूर हट जा। (२) ताकि वे अपने आपको धर्म में समझ कर शिक्षा दे सकें। (३) कितने मनुष्य इन बातों पर अपने मन में विचार करते हैं? (४) यह किसी मनुष्य के लिये उपयुक्त नहीं है कि ख़ुदा उसे ईश्वरीय किताब दे, बुद्धि दे और भविष्यवाणी की योग्यता दे, और वह मनुष्यों से कहे कि तुम ख़ुदा के अतिरिक्त मेरी पूजा करो — परन्तु उसे यह कहना चाहिये कि तुम ज्ञान और चारित्र में पूर्ण बनो, क्योंकि तुम शास्त्रों के जाननेवाले हो और तुम्हें उन पर चलना चाहिये।

इनके अतिरिक्त दरवेशों के वचन भी हैं जो कहते हैं — (१) मुर्ग़ (आत्मा) तन के पिंजरे से तभी छुटकारा पाता है जब वैराग्य की तलवार से इस विशाल अजगर (इच्छा) को काट डाला जाये। (२) इन्द्रियों की वासनाओं को साफ़ करना और हृदय को समस्त तामसिक भावों से शुद्ध करना।

इनका अर्थ भी वही है कि प्राणी देह के पिंजरे से तभी छुटकारा पा सकता है जब वैराग्य की तलवार से इस विशाल सर्प (इच्छा) को काट डाला जाये, और वासनाओं व कामनाओं को — जो इन्द्रियों के लक्षण हैं — काटकर शुद्ध भावों से परमात्मा की आज्ञा का पालन किया जाये। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि प्रारम्भ काल में मुसलमानों के मत का भी पूर्णरूप से वही भाव था जो सत्य वैज्ञानिक धर्म का है।

अब तेरी समझ में यह बात निश्चय हो गई होगी कि इन धर्मों में, जिनका स्वरूप तुझे समझाया गया है, इनके वास्तविक भावों की अपेक्षा तनिक भी भेदभाव नहीं है। जो कुछ भेदभाव इनमें पाया जाता है वह इनके शास्त्रों की अलंकारयुक्त भाषा के कारण है, अथवा इस कारण से है कि इन शास्त्रों के परवर्ती पाठकों ने इनके वास्तविक भाव को न समझकर और इनके अर्थ को शब्दार्थ भाव में लगाकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार टीका-टिप्पणी रच डाली। जब कोई मनुष्य संसार में जन्म लेता है तो जिस जाति या धर्म में उत्पन्न होता है उसी के कथानकों को उसके माता-पिता इत्यादि उसके हृदय पर अंकित कर देते हैं, या यों कहो कि वे उसे धार्मिक चित्रों का एक सैट (सेट) दे देते हैं, जिन्हें वह ऐतिहासिक रूप में मानने पर अभ्यस्त हो जाता है। इस प्रकार जितने अलंकारिक भाषायुक्त धर्म हैं, उनके अनुयायियों को एक-एक सैट अलंकारिक चित्रों का मिल जाता है। फिर जब वे बड़े हो जाते हैं और अपने-अपने चित्रों का एक दूसरे से मुक़ाबिला करते हैं तो उनके भावार्थ को न समझने के कारण एक को दूसरे के चित्रों में विरोध और वैधर्म्य के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता। यही कारण पारस्परिक वैर-भाव का है। यदि मनुष्य अपने और दूसरे के चित्रों का भाव समझ जायें तो इस धार्मिक विरुद्धता और उससे उत्पन्न होनेवाले वैर-भावों का सर्वथा नाश हो जाये। अब समय आ गया है कि विविध धर्मों का यथार्थ रूप फिर से प्रगट हो, इसलिये तेरे हृदय में भी इन्हें जानने की इच्छा उत्पन्न हुई है। यह बड़ी शुभ इच्छा है और स्व व पर का कल्याण करनेवाली है।

मैंने कहा — गुरुजी! आपके वचनों ने सूर्योदय का काम किया। जिस प्रकार सूर्यदेव के उदय होने से अन्धकार एकदम सर्वथा नष्ट हो जाता है उसी प्रकार आपके वचनों के प्रताप से मेरे हृदय का अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया। वास्तव में अब वह समय आ गया है कि धर्मों का पारस्परिक विरोध नष्ट हो जाये। भविष्य के हाल को तो आप ही जान सकते हैं, परन्तु जब आपकी इतनी कृपादृष्टि आज हुई है तो विदित होता है कि अवश्य ही मनुष्यजाति की शुभ गति शीघ्र आनेवाली है। अब कृपा करके गोवध की कुरीति के प्रारम्भ और उसके वास्तविक भाव पर भी प्रकाश डालिये, ताकि इस पापमयी क्रिया द्वारा जो अन्याय व विरोध संसार में बढ़ रहा है वह बन्द हो जाये।

गुरुजी ने उत्तर दिया — गाय के बलिदान की कुप्रथा बहुत दिन हुए पशुवध के सिलसिले में इसी भारतदेश में प्रारम्भ हुई थी। इसका पूरा वर्णन हिन्दूधर्म के शास्त्रों में तो नहीं मिलता, परन्तु महाभारत के शान्तिपर्व के ३३६वें अध्याय में इतना स्पष्ट

लिखा है कि एक बार कुछ देवों ने उत्तम ऋषि ब्राह्मणों से कहा कि यज्ञ में बकरों का बलिदान चढ़ाना चाहिये, और यह भी कहा कि शब्द "अज" का अर्थ बकरा लगाना चाहिये। ऋषियों ने इसका उत्तर इस भांति दिया कि वैदिक श्रुति यही घोषणा करती है कि यज्ञ केवल बीजों *(*अनाज*)* द्वारा ही किया जाता है, इन्हीं को "अज" कहते हैं*;* बकरों का वध करना तुमको उचित नहीं है। हे देवताओ*!* वह धर्म भले और सदाचारी पुरुषों का नहीं हो सकता जिसमें पशुवध बताया जाये। यह कृतयुग का काल है*;* इस सदाचार के काल में पशुओं का बलिदान कैसे हो सकता है*?*

जब यह विवाद ऋषि और देवताओं में हो रहा था, उस समय राजा वसु वहाँ अकस्मात् आ निकले, और दोनों पक्षों अर्थात् देवताओं और ऋषियों ने इस बात के निर्णय के लिये अपनी ओर से उन्हें पंच नियुक्त कर दिया। राजा वसु ने अन्यायपूर्ण होकर देवताओं का पक्षपात किया और शब्द "अज" का अर्थ बकरा ही बतलाया। इस पर ऋषियों को क्रोध आया और उन्होंने वसु को शाप दे दिया जिससे वह नष्ट हो गया। इसी शान्तिपर्व के ३३७वें अध्याय में लिखा है कि वसु ने एक समय अश्वमेध यज्ञ किया था, और उसमें किसी प्राणी का वध नहीं किया गया था, बल्कि यज्ञ की समस्त सामग्री जंगली उपज ही थी। अतः यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ में यज्ञ बिना पशुवध के होते थे*;* पश्चात् को पशुवध की कुप्रथा चल पड़ी।

जैनमत के पुराणों में भी इस कुप्रथा के चलने का वर्णन आता है, जिसका भाव इस प्रकार है — एक समय, राजा वसु के राज्य में, जिसे बहुत काल व्यतीत हो चुका था, एक व्यक्ति नारद और उसके गुरु-भाई पर्वत में "अज" शब्द के उस अर्थ पर विवाद हुआ जिसका प्रयोग देव-पूजा में होता था। इस शब्द के उस समय दो अर्थ थे — एक तो तीन वर्ष पुराना धान्य जिसमें अंकुर नहीं निकल सकता, और दूसरा "बकरा"। पर्वत ने इस बात पर ज़ोर दिया कि इस शब्द का अर्थ बकरा ही है, मगर नारद ने पुराने अर्थ की पुष्टि की। सर्वसाधारण की सम्मति, सनातन रीति और प्रतिवादी की युक्तियों से पर्वत की पराजय हुई, परन्तु उसने राजा के समक्ष इस घटना को उपस्थित किया, जो स्वयं उसके पिता का शिष्य था। राजा की सम्मति पर्वत के अनुकूल प्राप्त करने के हेतु पर्वत की माँ छिपकर महल में गई और उससे अपने पति *(*वसु*)* की गुरु-दक्षिणा माँगी, और इस बात की इच्छुक हुई कि मुँह-माँगा वर पावे। वसु ने, जिसे इस बात का क्या अनुमान हो सकता था कि उससे क्या माँगा जायेगा, अपना वचन दे दिया। तब पर्वत की माँ ने उसे बतलाया कि वह पर्वत के अनुकूल निर्णय करे, और उसे प्रतिज्ञा से न हटने दिया। दूसरे दिन मामला राजा के समक्ष उपस्थित हुआ जिसने अपनी सम्मति पर्वत के अनुकूल दी। इस पर वसु धँस गया *(*नष्ट हो गया*)*, और पर्वत राजधानी से दुर्गति के साथ निकाल दिया गया, परन्तु उसने अपनी शक्ति भर अपनी शिक्षा के फैलाने का प्रण कर लिया।

पर्वत अभी सोच ही रहा था कि उसे क्या करना चाहिये, कि इतने में एक पिशाच पाताल से ब्राह्मण ऋषि का भेष बनाकर उसके पास आया। यह पिशाच, जिसने अपना नाम शांडिल्य बताकर पर्वत से परिचय कराया, अपने पूर्वजन्म में मधुपिंगल नामी राजकुमार था, जो अपने वैरी *(*प्रतिद्वन्द्वी*)* द्वारा धोखा खाकर अपनी भावी पत्नी से वंचित रह गया था। इसका विवरण यों है कि मधुपिंगल को राजकुमारी सुलसा के स्वयंवर में वरमाला द्वारा स्वीकार किये जाने का पूरा अवसर था, और सब लोगों का यही विश्वास था कि उसके होते हुए सुलसा किसी अन्य व्यक्ति को...

...बरेगी। परन्तु उसका एक रक़ीब सगर नामक था जिसने सुल्सा के प्रेम में अन्धा होकर अपने मंत्री से इस बात की इच्छा प्रगट की कि वह कोई यत्न राजकुमारी की प्राप्ति का करे। इस दुष्ट मंत्री ने एक बनावटी सामुद्रिक शास्त्र रचा और उसे गुप्त रीति से स्वयंवर-मण्डप के नीचे गाड़ दिया, और जब स्वयंवर में आये हुये राजकुमारों ने अपने-अपने आसन ग्रहण कर लिये तो उसने छल-पूर्वक ज्योतिष द्वारा एक प्राचीन शास्त्र स्वयंवर के मण्डप के नीचे गड़ा होना बतलाया। संक्षेप में, जाली दस्तावेज़ खोदकर निकाला गया, और समा में मंत्रीजी से ही उसके बाँचने का अनुरोध किया। उसने शास्त्र पढ़ना आरम्भ किया और शीघ्र ही आँखों के वर्णन पर आया जिसके कारण मधुपिंगल विशेष रूप से प्रसिद्ध था। बड़े हर्ष सहित मधुपिंगल के उस शत्रु ने बनावटी सामुद्रिक शास्त्र के एक-एक शब्द को, जिसमें मधुपिंगल की ऐसी आँखों की बुराई की गई थी, ज़ोर देकर पढ़ा कि वे दुर्भाग्य की सूचक होती हैं और उनका स्वामी कर्महीन, अभागा, मित्र और कुटुम्बियों के लिये अशुभ होता है। बेचारे मधुपिंगल के आँसू निकल आये और वह सभा से उठ गया। इस कपट-क्रिया द्वारा पराजित, दुःखित और लज्जित होकर उसने अपने कपड़े फाड़ डाले और संसार को त्यागकर सन्यासी का जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। इस समय सुल्सा ने स्वयंवर में प्रवेश किया और सगर को अपना पति स्वीकार किया।

इसके कुछ काल पश्चात् मधुपिंगल ने एक सामुद्रिक के जानकार से सुना कि उसके साथ छल किया गया और धोखा हुआ। उसने उसी क्रोध की दशा में, जो धोखे का हाल खुल जाने से उत्पन्न हुआ था, अपने प्राण तज दिये। मरकर वह पाताल में पिशाच योनि में उत्पन्न हुआ, जहाँ उसे अपने पूर्वजन्म के धोखा खाने का तत्काल बोध हो गया, और वह वहाँ से अपने शत्रुओं से बदला लेने को चला। वह तुरन्त मनुष्यों के देश में आया, और पर्वत से उस समय उसका समागम हुआ जब वह

वसु के राज्य से निकाला गया था और सोच-विचार में था कि वह "अज" शब्द के अपने *(*नवीन*)* अर्थ को किस प्रकार संसार में फैलावे। उसने पर्वत को अपने शत्रु से बदला लेने में योग्य और तत्पर सहायक जानकर उसके दुष्ट कार्य की पूर्ति में सहायता देने की प्रतिज्ञा की।

मनुष्य और पिशाच की इस अशुभ प्रतिज्ञा के अनुसार यह निश्चय हुआ कि पर्वत सगर के नगर को जाय, जहाँ महाकाल *(*यह उस पिशाच का वास्तविक नाम था*)* सब प्रकार की व्याधियाँ और महामारी फैलायेगा, जो पर्वत के उपायों से दूर हो जायेंगी। इस प्रकार पर्वत की प्रतिष्ठा वहाँ के लोगों की दृष्टि में हो जायगी, जिनमें वह अपने भावों का प्रचार करना चाहता था। पिशाच ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, और पर्वत ने समस्त प्राणियों को बुरे-बुरे रोगों में ग्रसित पाया, जिनका वह मन्त्रों द्वारा सफलतापूर्वक इलाज करने लगा। परन्तु उस अभागे राज्य में हर रोग के स्थान पर जो अच्छा हो जाता था, दो नये और रोग उत्पन्न हो जाते थे — यहाँ तक कि लोगों को इस बात का विश्वास हो गया कि उन पर देवताओं का कोप है, और उन्होंने पर्वत से, जिसे वे अपना मुख्य रक्षक समझने लगे थे, इस बारे में सम्मति ली। इस प्रकार कुछ काल व्यतीत हो गया, और अन्त में यह विचारा गया कि अब बलिदान की नवीन प्रथा के आरम्भ के लिये समय अनुकूल है। आरम्भ काल में प्राणियों के बलिदान का घोर विरोध हुआ, परन्तु बहुत काल तक झेले हुये असह्य दुःखों और पर्वत की अतुल प्रतिष्ठा ने, जो पूजा के दर्जे तक पहुँच गई थी, और मुख्यतः उस श्रद्धा ने जो उसकी अद्भुत शक्ति के कारण लोगों में उत्पन्न हो गई थी और जो वास्तव में उसकी कार्य-सफलता के अनुभव पर निर्धारित थी, मन्द साहसवाले हृदयों को उसकी आज्ञा पालने के लिये प्रस्तुत कर दिया।

सबसे पहले माँस बकरे के रोगों में दवाई के तौर पर दिया गया, और वह कभी आशाजनक परिणाम उत्पन्न करने में असफल नहीं हुआ। धीरे-धीरे पर्वत के भक्तों की संख्या बराबर बढ़ती गई, यहाँ तक कि उसके यह विश्वास दिलाने पर कि बलि से पशु को कष्ट नहीं होता बल्कि वह सीधा स्वर्ग को पहुँच जाता है, "अजमेध" यज्ञ किया गया। यहाँ भी महाकाल की शक्तियों पर भरोसा किया गया, जो निष्फल नहीं हुईं, क्योंकि ज्यों ही बलि-पशु ने पवित्र छुरी के नीचे तड़फना व कराहना आरम्भ किया त्यों ही महाकाल ने अपनी माया-शक्ति से हवाई विमान में एक बकरे को हर्षित व प्रसन्न स्वर्ग की ओर जाते हुये बनाकर दिखा दिया। सगर के राज्य के भोले-भाले लोगों को विश्वास दिलाने के लिये अब किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह गई। अजमेध के पश्चात् गोमेध हुआ, गोमेध के बाद अश्वमेध, और अन्ततः पुरुषमेध भी बड़े समारोह के साथ मनाया गया, जिनमें से हर एक ने अपना आशाजनक फल दिखलाया। हर यज्ञ में बलि-पशु या मनुष्य को स्वर्ग जाते हुये भी दिखलाया गया। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, लोगों के हृदय से माँस-भक्षण व जीव-हिंसा की घृणा, जो उनमें प्रारम्भिक अवस्था में थी, निकलती गई, यहाँ तक कि अन्त में बलिदान बलि-प्राणी के लिये स्वर्ग का निकटतम मार्ग माना जाने लगा। इस प्रथा की एक व्याख्या बलिदान के शास्त्रों में, जो उस समय रचे गये, कर दी गई, और लोगों के दिलों में इन रीतियों के लिये इतनी श्रद्धा हो गई कि बहुत से लोग हर्षपूर्वक यह विश्वास करके कि वे इस प्रकार तुरन्त स्वर्ग पहुँच जायेंगे, स्वयं अपनी बलि चढ़ाने के लिये तत्पर हो गये। अन्त में सुल्सा और उसका कपटी चाहनेवाला सगर भी देवताओं के प्रसन्नार्थ अपना-अपना बलिदान कराने आये, और यज्ञ की वेदी पर काट डाले गये।

पिशाच का प्रण अब पूर्ण हो गया; उसने अपना बदला ले लिया और पाताल-लोक को चला गया। उसके चले जाने से बलिदान का बनावटी प्रभाव बहुत कुछ जाता रहा, परन्तु चूँकि वह अपने साथ व्याधियों और महामारियों को भी लेता गया, इस कारणवश उसकी ओर आरम्भ में लोगों का ध्यान नहीं गया। नवीन रचे गये वाक्य "कि बलि-प्राणी सीधा स्वर्ग को पहुँच जाता है" के अप्रामाणिक होने को अब लोग इस प्रकार समझाने लगे कि यह पवित्र मन्त्रों के उच्चारण या शुद्ध अनुवाचन में — जो बलिदान के समय पढ़े जाते थे — किसी त्रुटि के रह जाने के कारणवश अथवा किसी और कारण से है। इसी बीच यज्ञ करानेवाले पुरोहितों के निमित्त यज्ञ की पूरी विधि भी तैयार कर ली गई थी, और आचारित पद्धति का एक सम्पूर्ण नीतिशास्त्र भी तैयार हो गया जिसमें छोटे-छोटे नियमों पर भी अच्छी तरह विचार किया गया था। अनुमानतः प्राचीन *(*ऋग्वेद के*)* समय के कुछ मन्त्रों में भी पर्वत और उसके भावानुगत शिष्यों के अनुसार परिवर्तन कर दिया गया था। सगर की राजधानी से बढ़कर यह नई शिक्षा दूर तक फैल गई, और पिशाच के अपने निवास-स्थान को प्रस्थान करने के पश्चात् भी पुरोहितों की शक्तियाँ — जो उन्हें मेस्मरेज़्म, योग-विद्या इत्यादि के अभ्यास से, जिनमें मालूम होता है कि उन्हें भली प्रकार प्रवेश कराया गया था, प्राप्त हुई थीं — लोगों को पर्वत के दुष्ट मत की ओर आकर्षित करने में पर्याप्त रहीं।

ऐसा वर्णन है जिससे जैन और हिन्दू मतों के पुराणों से पशुवध के आरम्भ का पता चलता है। इसमें सन्देह नहीं कि एक समय यह बहुत दूर देशों तक फैल गया था, और म्लेच्छ देशों के वासियों ने भी इसे स्वीकार कर लिया था। इसी कारण से पश्चात् को यह कभी पूर्णतया बन्द नहीं हो सका, यद्यपि अधिक बुद्धिमान लोग शीघ्र यह जान गये थे कि बलिदान का प्रभाव वास्तविक नहीं बल्कि असत्य है, और उन्होंने यह निश्चित कर लिया कि रक्त बहाना अपनी या बलि-प्राणी की मुक्ति

का कारण कभी नहीं हो सकता। परन्तु इस प्रथा की जड़ें दूर-दूर तक फैल गई थीं और एकदम नष्ट नहीं हो सकती थीं। बहुत समय व्यतीत हो जाने के पश्चात् बलिदान की प्रथा के विरोध में जो लहर उठी थी उसमें इतनी शक्ति पैदा हो गई कि सुधार का काम कर सके। इस निमित्त से भावार्थ का आधार यज्ञ-शास्त्रों के अर्थ बदलने के हेतु ढूँढा गया, और मुख्य जाति के बलि-पशुओं के लक्षणों और उनके नामों का गुप्तार्थ स्थापित करने के लिये प्रयोग किया गया। इस प्रकार मेढ़ा, बकरा, साँड़ — जो बलि-पशुओं में तीन मुख्य जाति के जीव हैं — आत्मा की कुछ घातक शक्तियों के, जिनका नाश करना आत्मिक शुद्धता की सिद्धि व मोक्ष के हेतु आवश्यक है, चिह्न ठहराये गये। यह युक्ति सफल हुई, क्योंकि एक ओर तो उसने यज्ञ की विधि को ईश्वरीय वाक्य की भांति अखण्डित छोड़ा, और दूसरी ओर बलिदान की अमानुषिक प्रथा को बन्द कर दिया, और मनुष्यों के विचारों को इस विषय में सत्य-मार्ग की ओर लगा दिया। परन्तु पाप के जिस बीज को बोया गया था उसमें इतनी अधिक फूट कर फैलने की शक्ति थी कि वह बलिदान-सिद्धान्त के भावार्थ के बदल जाने से पूर्णरूप से नष्ट न हो सकी, क्योंकि तमाम गुप्त-शिक्षावाले अर्थात् अलंकारयुक्त मतों ने बलि के रक्त द्वारा स्वर्ग जा पहुँचने की नवीन प्रथा को स्वीकार कर लिया था, और वे सहज में ही एक ऐसी रीति के छोड़ने के लिये — जिसमें उनके प्रिय भोजन अर्थात् पशुओं का माँस खाने की करीब-करीब खुली आज्ञा थी — प्रस्तुत नहीं हो सके। यहूदियों के मत में भी ऐसा ही परिवर्तन एक समय हुआ जैसा हिन्दूधर्म में हुआ।

*[*इसके आगे बाइबिल के सैमुएल, यशायाह, यिर्मयाह, आमोस, होशे, मीका आदि पुस्तकों तथा भजनों *(*ज़बूर*)* से अनेक उद्धरण दिये गये हैं, जो यह दर्शाते हैं कि ईश्वर पशु-बलि से नहीं बल्कि आज्ञापालन, दया और शुद्ध हृदय से प्रसन्न होता है — जैसे "आज्ञापालन बलिदान से अच्छा है," "मुझे दया चाहिये, बलिदान नहीं," "अपने शरीर को ही जीवित, पवित्र बलिदान बनाकर अर्पित करो" इत्यादि। इसी क्रम में क़ुरान शरीफ़ की आयत उद्धृत है कि "ऊँटों का बलिदान हमने तुम्हारे लिये परमात्मा की आज्ञाओं की मान्यता का चिह्न बताया है*;* उनका माँस अथवा रक्त ईश्वर को स्वीकृत नहीं, केवल तुम्हारी धर्मनिष्ठा उसे स्वीकृत है। "*]*

गुरुजी आगे कहते हैं — गोवध की कुरीति के भावार्थ को इसी दृष्टि से समझना चाहिये। महाभारत के अश्वमेध-पर्व में यह गुप्त रहस्य पूर्णरूप से स्पष्ट कर दिया गया है कि दस इन्द्रियाँ ही यज्ञ करनेवाली हैं, उनके विषय ही समिधा हैं, और इनका स्वाहा करना ही बलिदान है — चित्त की एकाग्रता *(*अश्व*)* उसका आधार है। इसी पर्व में यह भी कहा गया है — "अहिंसा सर्वभूतों के लिये सबसे उत्तम कृत्य मानी गई है*;* यही सर्वश्रेष्ठ धर्म-लक्षण है। जो हिंसा में रत हैं, नास्तिक-वृत्ति के हैं, लोभ-मोह से युक्त हैं, वे नरकगामी होते हैं। " छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा है कि मोक्ष के मुमुक्षु को तप, दान, सरलता, अहिंसा और सत्यवादिता को इन्द्रिय-निग्रह द्वारा प्राप्त करना पड़ता है, और योगदर्शन में तो अहिंसा को यम के पाँच नियमों में सबसे पहले गिना है, जिसके बिना समाधि असम्भव है। बलिदान का मूल तत्त्व यह है कि उसके बिना परमात्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक नीच शारीरिक बहिरात्मा मनुष्य के ध्यान में विराजमान है उस समय तक परमात्मापन की प्राप्ति असम्भव है*;* इसलिये परमात्मापन को प्रकाश में लाने के लिये बहिरात्मतत्त्व के बलिदान की आवश्यकता है — "अज" अलंकार की भाषा में इसी बहिरात्मतत्त्व की मैथुन-शक्ति को प्रकट करता है, और "नरमेध" स्वयं बहिरात्मा का ही बलिदान है।

मैंने कहा — महाराज*!* आपकी कृपा से बलिदान का भाव और उसका यथार्थ स्वरूप मैं भली भांति समझ गया हूँ। मेरे हृदय में यह बात निश्चय हो गई है कि मुक्ति का मार्ग अपने ही अधम भावों का बलिदान है, न कि किसी अन्य प्राणी के जीवन का बलिदान। परन्तु अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों के शास्त्रों में भी बलिदान बहिरात्मा का ही बताया गया है, इसे भी निश्चयात्मक रूप से सुनना चाहता हूँ।

गुरुजी ने कहा — *(*इसके पश्चात् गुरुजी बाइबिल के अनेक उद्धरणों — भजन ४०, ५१, ६९*;* यशायाह १*;* होशे ६*;* आमोस ५*;* मीका ६ — के द्वारा यह दिखलाते हैं कि यहूदी धर्मग्रन्थों में भी पशु-बलि के बजाय हृदय की शुद्धि और आज्ञापालन को ही सच्चा बलिदान बताया गया है। इसी प्रकार रोमियों की पत्री में सन्त पौलुस का कथन उद्धृत है कि "अपने ही शरीरों का सच्चा, पवित्र बलिदान कर दो — यही तुम्हारी सच्ची सेवा है। " पारसियों के शास्त्र "शायस्त-ला-शायस्त" का भी यही मत उद्धृत किया गया है।*)*

अब मुसलमानों के धर्म के विषय में सुन। इसमें सन्देह नहीं कि मोहम्मद स्वयं बलिदान के वास्तविक स्वरूप से पूर्णतया अवगत थे, परन्तु वे अपने सजातीय मनुष्यों के क्रोध को प्रज्वलित नहीं करना चाहते थे, इसलिये उन्होंने बलिदान के सिद्धान्त के यथार्थ भाव को गुप्त रीति से बताकर ही सन्तोष धारण किया, और इस प्रकार खुले तौर पर उसका निषेध नहीं किया जैसा इंजील के नवीन अहदनामे में किया गया। क़ुरान शरीफ़ में स्पष्ट कहा गया है कि ऊँटों के बलिदान का उद्देश्य केवल

आज्ञापालन का चिह्न है — उनका माँस या रक्त ईश्वर को स्वीकृत नहीं, केवल धर्मनिष्ठा स्वीकृत है — किन्तु खेद है कि अरबवासियों के हृदय पर इसका प्रभाव कुछ भी न पड़ा।

अब क़ुरान शरीफ़ में वर्णित गाय के बलिदान का अर्थ बताते हैं — यह मूसा और यहूदियों के बीच के उस प्रसिद्ध वृत्तान्त पर आधारित है *(*सूरा बक़रा*)* जिसमें अल्लाह की आज्ञा से एक विशेष गाय — जो न बूढ़ी न बछिया, गहरे पीले रंग की, निर्दोष और अनुपयोगी श्रम से मुक्त — बलि की जाती है, और उसके एक अंश से एक हत्या के शिकार मृतक को छुला कर उसे क्षणभर के लिये जिलाकर हत्यारे का नाम बतलाया जाता है। गुरुजी इस पूरे वृत्तान्त का आध्यात्मिक अर्थ खोलते हुए बताते हैं कि यहाँ "गाय" का अर्थ संस्कृत में भी इन्द्रिय-समूह ही है *(*क्योंकि जो चलायमान है वही "गो" कहलाती है*)*, और "गोमेध" का वास्तविक अर्थ इन्द्रियों का दमन है — जिसे मुसलमान देशों की भाषा में "नफ़्स" व "नफ़्स-कुशी" *(*इन्द्रिय-दमन*)* कहा जाता है। "मनुष्य की हत्या" का अर्थ आत्म-ज्ञान की अनभिज्ञता से है — जो लोग अज्ञानतावश आत्मा के अस्तित्व से इन्कार करते हैं वे मानो आत्महत्या करते हैं, और उन्हें आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण केवल एक ही परीक्षा से मिल सकता है — अपनी नीच इच्छाओं रूपी बहिरात्मा का पूर्ण बलिदान करने पर आत्मा स्वयं जाग्रत होकर, जीवित होकर, अपने अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण दे देती है।

मैंने कहा — गाय के बलिदान का यह विचित्र भाव सुनकर मेरा हृदय अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ, परन्तु यह मेरी समझ में नहीं आता कि इस भेद को जानते हुए भी मोहम्मद ने बलिदान के नाम पर पशुवध क्यों होने दिया।

गुरुजी ने कहा — *(*गुरुजी बताते हैं कि अलंकार की भाषा के प्रयोग का यही परिणाम होता है कि उसके यथार्थ भाव के जाननेवाले थोड़े होते हैं, शब्दार्थ में समझनेवाले अधिक। यूनान, मिस्र, मेसोपोटामिया आदि देशों में भी गुप्त-रहस्य सिखानेवाली गुप्त संस्थाएँ रही हैं — फ़्री-मेसनरी भी वैसी ही एक संस्था है। मंसूर को "अनल हक़" *(*मैं ही सत्य/ब्रह्म हूँ*)* कहने पर सूली दी गई थी*;* स्वयं मोहम्मद साहब को भी अपने प्राणों का भय था। साधारण मुसलमान, जो रहस्यवाद से अनभिज्ञ थे, केवल बाह्य कर्मकाण्ड द्वारा ही स्वर्ग-प्राप्ति में विश्वास रखते थे, और यदि मोहम्मद खुले तौर पर बलि-प्रथा का निषेध करते तो जनसाधारण विद्रोह कर बैठता और इस्लाम की लौकिक उन्नति रुक जाती — इसी कारण मोहम्मद को बलिदान के नाम पर पशुवध को बने रहने देना पड़ा।*)*

मैंने कहा — आपको धन्य है कि आपने मेरे इस सन्देह को भी दूर कर दिया। अब कृपया मुझे इस गाय के बलिदान की एक अन्य कथा भी सुनाइये जो मुसलमानों के मत में प्रचलित है।

गुरुजी ने कहा — *(*यहाँ गुरुजी एक प्रसिद्ध इस्लामी लोक-कथा सुनाते हैं — एक व्यक्ति अपनी मृत्यु पर अपने बालक पुत्र और एक बछिया छोड़ जाता है। बड़ा होने पर माता उसे बताती है कि वह बछिया उसकी है, और उसे बाज़ार में तीन स्वर्ण-मुहरों में बेचने को कहती है। बाज़ार में एक फ़रिश्ता *(*देवदूत*)*, मनुष्य-रूप में, पहले छः मुहरें, फिर बारह मुहरें बछिया के लिये देने की पेशकश करता है — इस शर्त पर कि युवक अपनी माँ को न बताए — किन्तु युवक हर बार सच्चाई से अपनी माँ को बता देता है। अन्ततः फ़रिश्ता कहता है कि यह बछिया आगे चलकर इसराइली लोग ऊँचे दाम पर ख़रीदेंगे। कुछ समय बाद एक इसराइली की हत्या हो जाती है*;* हत्यारे का पता नहीं चलता*;* ईश्वर की आज्ञा से ठीक उन्हीं विशेष लक्षणोंवाली गाय — अर्थात् वही अनाथ की बछिया, जो अब बड़ी हो चुकी है — ढूँढी जाती है, बड़े मूल्य पर ख़रीदी जाती है, बलि दी जाती है, और उसके एक अंग से मृतक को छुआने पर वह क्षणभर को जीवित होकर अपने हत्यारे का नाम बताता है और पुनः मृतक हो जाता है।

गुरुजी इस कथा का विस्तृत आध्यात्मिक अर्थ खोलते हैं — बछिया इन्द्रिय-समूह है*;* युवक होना मनुष्य-योनि की प्राप्ति है*;* बियाबान में बछिया का बड़ा होना निम्न योनियों *(*एक-इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक*)* में आत्मा का भ्रमण है*;* तीन मुहरें जीवन की तीन साधारण आवश्यकताएँ *(*भरण-पोषण, गृहस्थ-सुख, भोग-विलास*)* हैं जो इन्द्रिय-दमन अर्थात् परिश्रम से ही प्राप्त होती हैं*;* छः मुहरें इस लोक व परलोक दोनों के सुख का संकेत हैं, जो पुण्य-कर्म वाले को प्राप्त आत्म-बोध से मिलती हैं*;* बारह मुहरें इन्द्रिय-दमन की परम सिद्धि अर्थात् स्वयं परमात्मापन की प्राप्ति की शक्ति दर्शाती हैं — इसीलिये फ़रिश्ता माँ *(*बुद्धि*)* को न बताने को कहता है, क्योंकि साधारण बुद्धि आत्मा के इस परम रहस्य को ग्रहण करने में असमर्थ होती है, फिर भी बिना ज्ञान के मुक्ति भी नहीं — इसलिये युवक फिर भी माँ को बताता है। "इसराइली" शब्द का अर्थ यहाँ स्वात्मज्ञानी से है। हत्या किये गये इसराइली का अर्थ अन्तरात्मा है, और उसका हत्यारा निकट-सम्बन्धी बहिरात्मा है — अर्थात् अज्ञान-दशा में अन्तरात्मा का घात बहिरात्मा द्वारा ही होता है। धर्माचार्य *(*मूसा*)* के समक्ष विवाद अनात्मवाद व आत्मवाद के बीच का शाश्वत विवाद है, जिसका समाधान तर्क से नहीं बल्कि चमत्कार *(*मोजिज़ा*)* से — अर्थात् इन्द्रिय-

दमन के प्रत्यक्ष अनुभव से — ही होता है। ठीक उसी विशेष गाय *(*बछिया*)* को ढूँढना यह दर्शाता है कि केवल साधारण इन्द्रिय-दमन से नहीं, बल्कि नफ़्स की सम्पूर्ण बलि *(*नफ़्स-कुशी*)* से ही मोक्ष सिद्ध होता है। मृतक का क्षणभर जीवित होकर हत्यारे का नाम बताना और पुनः मृतक हो जाना यह दर्शाता है कि जीवन्मुक्त होने पर आत्मा को प्रत्यक्ष बोध हो जाता है कि अनात्मवाद ही उसका वास्तविक घातक था, और फिर वह शरीर त्याग कर सदा के लिये मोक्ष को प्राप्त हो जाता है — अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति के साथ।*)*

मैंने कहा — गुरुजी*!* मैं आश्चर्य के सागर में डूब गया। इस कथा के रचयिता ने अद्भुत चतुराई दिखाई है कि एक ही संक्षिप्त कथा के भीतर सर्व धर्मों के सिद्धान्तों का सार भर दिया है। यह इन्द्रियों का पुतला *(*मन*)* बड़ा ही विलक्षण है — इसे थोड़ा मारने अर्थात् परिश्रम करने से मनुष्य जीवन की साधारण आवश्यकताएँ पूरी करता है *(*तीन मुहरें*);* व्रत-नियमों द्वारा इसे अधिक वश में लाने से स्वर्ग-सुख मिलता है *(*छः मुहरें*);* किन्तु इसे पूर्णतया जड़-मूल से नष्ट कर परमात्मा के नाम पर बलिदान कर देने से यह तत्क्षण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और नित्य जीवन प्रदान करता है — यही इसका असली अनन्त-मूल्य है। अंग्रेज़ी शब्द "सैक्रिफ़ाइस" *(*बलिदान*)* भी, जो लातीनी सैक्रे *(*पवित्र-पूर्ण*)* और फ़ेसरे *(*बनाना*)* से बना है, और "होली" *(*पवित्र*)* शब्द भी, जिसका मूल अर्थ पूर्ण व समूचा होना है, इसी भाव को प्रगट करते हैं — कि केवल किसी निरपराध पशु का रक्त कभी मनुष्य को पूर्ण या पवित्र नहीं बना सकता*;* बहिरात्मा का ही बलिदान हमें "होली" *(*पूर्ण*)* बना सकता है। जैसे-जैसे दुष्प्रवृत्तियाँ और उनके दुष्परिणाम नष्ट होते हैं, वैसे-वैसे शुद्ध परमात्मस्वरूप उस व्यक्ति के जीवन में प्रगट होता जाता है, और अन्ततः पूर्ण रूप से अपवित्रता व पाप की शक्तियों के नाश होने पर आत्मा साक्षात् परमात्मा हो जाती है।

गुरुजी ने कहा — प्रिय पुत्र*!* सब बातें अपने-अपने समय पर ही हुआ करती हैं। रहस्यवाद की गुप्त शिक्षा का अब अन्त-समय निकट आ गया है। जा*!* अब इस शुभ सन्देश की शक्ति जनता में फैला। श्रुतिदेवी तेरी और सार्वधर्म-रहस्य की रक्षा करे, और सबका कल्याण हो।

अन्तिम दो शब्द

दुनिया मतवाली हो रही है। लोग पापी, दुराचारी, कपटी और बेईमान बन गये हैं। ख़ासकर राष्ट्रीय मामलों में दग़ा और फ़रेब से काम लिया जाता है। जो महान् संग्राम इस वक़्त यूरोप में हो रहा है उसका भी यह एक कारण है कि वहाँ के लोगों के दिलों में सन्तोष नहीं है, और बिना सन्तोष के दूसरों के प्रति इन्साफ़ और मैत्री-भाव का बर्ताव नहीं हो सकता, बल्कि हमेशा छीना-झपटी की नीयत रहती है। जो राष्ट्र अपनी रक्षा करने में असमर्थ है वह अन्य कूटनीतिज्ञ राष्ट्रों का शिकार बन जाता है, अथवा यों कहो, कूटनीतिज्ञ राष्ट्र उस पर अपनी सत्ता जमा लेते हैं। यह सन्तोष मनुष्यों के हृदयों में कैसे पैदा किया जाय*?* इसके लिये वर्तमान यूरोपीय युद्ध से ही स्पष्ट है कि न तो यूनिवर्सिटियों की शिक्षा का और न अलंकारयुक्त धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं का राष्ट्रीय नेताओं के हृदयों पर कुछ भी असर होता है — क्योंकि यूनिवर्सिटी की शिक्षा मनुष्य को यही सिखाती है कि उसमें और जानवरों में बुद्धि के सिवा और कुछ भी फ़र्क़ नहीं है, और अलंकारयुक्त धर्मशास्त्रों का असर इसलिये नहीं पड़ता कि जब तक उनका भाव ठीक-ठीक न समझा जाय तब तक वे कोरा पाखण्ड ही नज़र आते हैं। इसलिये वैज्ञानिक धार्मिक शिक्षा ही एक मात्र कुंजी है जो मनुष्य को आत्मविज्ञान का बोध कराती है, जिसके सबब उसे अपनी आत्मा की उन्नति और अवनति का ख़याल होता जाता है। वह दुनिया के वैभवों की ओर वहीं तक नज़र डालता है जहाँ तक कि ऐसा करने से उसकी आत्मा को नुक़सान न पहुँचे। आत्मा अगर दुर्गति को गया तो दुनिया के वैभवों के संग्रह से क्या प्रयोजन*!*

अब जिन्हें वैज्ञानिक धर्म का पता चल गया है या जिन्हें मालूम है, उनका कर्तव्य है कि वे आत्मविज्ञान का पूर्ण रूप से दुनिया में प्रचार करने में लग जायें, और इस तरह प्रचार करें जिससे किसी को बुरा न लगे — प्रेम और मित्रता से काम लें, किसी को दुत्कारें नहीं, न किसी के लिये म्लेच्छ या धर्मभ्रष्ट आदि शब्दों का प्रयोग करें। प्रेम के साथ जब आत्मविज्ञान का प्रचार होगा तो निस्सन्देह लोगों के दिलों पर उसका असर पड़ेगा, परन्तु याद रहे, प्रचारक को स्वयं अपने मत के पाखण्डों से — यदि कोई उसमें हों — मुक्त होना पड़ेगा।

समाप्त